दर्शन-कणिका

सूर्यप्रकाश व्यास

आचार्यरामचन्द्रद्विवेदीस्मृतिग्रन्थमाला- सप्तम पुष्प

दर्शन-कणिका

डॉ0 सूर्यप्रकाश व्यास
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रशान्त प्रकाशन
128, बालाजी कॉलोनी, भगवानपुर
वाराणसी

दर्शन–कणिका

संस्करण प्रथम, 2002

प्रशान्त प्रकाशन
128, बालाजी कॉलोनी, भगवानपुर
वाराणसी- 221 005 (उ०प्र०)
फोन- 366066



मूल्य : 150.00 रूपये

कम्पोजिंग :
आयुशी कम्प्यूटर्स, वाराणसी

मुद्रक :
महावीर प्रेस, वाराणसी

प्राक्कथन

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थ माला के इस सप्तम पुष्प के माध्यम से विगत कुछ वर्षों में लिखे गए दर्शन-विषयक लेखों के पराग-कणों का संग्रह प्रस्तुत है। इन लेखों में प्रधानरूप से काश्मीर शैव दर्शन और बौद्ध दर्शन की कुछ समस्याओं का विश्लेषण है। इनकी शैली, तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार, कहीं वर्णनात्मक और कहीं शोधपरक है।

यह 'पुष्प' माणिक्यलाल वर्मा श्रमजीवी कॉलेज उदयपुर, संस्कृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान) तथा जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) के उन सभी छात्र-छात्राओं को समर्पित है जिन्होंने अपने अनुशासन, आदर, परिश्रम, स्नेह और विश्वास के फलस्वरूप दर्शन के इस साधारण अध्यापक व शोध-निर्देशक के सेवा-भाव को सक्रिय रखा और सार्थकता प्रदान करने में सहयोग किया।

प्रशान्त प्रकाशन की योजनाओं को साकार करने में विशेषरूप से संलग्न डॉ0 विनीता पाण्डेय ने इस पुस्तक की प्रुफ रीडिंग आदि कार्यो में पूर्ण आस्था एवं उत्साह से सहयोग किया है- एतदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री नवीन श्रीवास्तव, आयुशी कम्प्यूटर्स, वाराणसी ने सदा की तरह इस प्रकाशन में भी धैर्य एवं उत्साह का परिचय दिया है, उन्हें भी धन्यवाद।

सूर्यप्रकाश व्यास

दर्शन–कणिका

क्रम

पृष्ठ

दर्शन और इसकी प्रासङ्गिकता

दर्शन : प्रकृति और प्रवृत्ति

पुस्तकीय परिभाषाओं से परे हट कर देखें तो दर्शन जीवन और जगत् के सम्पूर्ण यथार्थ को आलोकित करने वाला महासूर्य है, उदात्त चिन्तन का हिमालय है, मानव–जिज्ञासा की गंगोत्री है और विभिन्न चिन्तनधाराओं को आत्मसात् करने वाला महासमुद्र है। यह जीवन का केवल सत्य ही नहीं है, बल्कि उसे शिव और सुन्दर बनाने की कला भी है। यह विश्व–मानव के अनुभवों की गीता और उसके भविष्य का प्रकाशस्तम्भ है। यह एक ओर समस्याओं की जननी तथा दूसरी ओर समाधानों का पिता है।

ज्ञान–विज्ञान की सभी शाखाएँ दार्शनिक चिन्तन से सामंजस्य स्थापित किये बिना एकाङ्गी और अपूर्ण हैं। इनका एकाङ्गी विकास मानव के पूर्ण और स्थाई कल्याण में समर्थ नहीं है। अत: भिन्न–भिन्न दिशाओं में सीमित लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होने वाले विविध शास्त्रों में दिशा, परस्पर–सङ्गति, सामंजस्य और समन्वय का आधार दर्शन ही प्रदान करता है। इस दृष्टि से यह सभी शास्त्रों में अन्तगर्भित सूत्र और कौस्तुभमणि है। यह सभी विषयों में व्याप्त होकर भी विषयातीत (शास्त्रातीत) है। सभी कालों में व्याप्त होकर भी कालातीत है। लौकिक और धार्मिक आचारों, जीवन–शैलियों में अनुस्यूत होकर भी क्रियातीत है। यह समस्त दर्शन–सम्प्रदायों के चिन्तन में अभिव्यक्त होकर भी सम्प्रदाय–निरपेक्ष है। तर्क–बल से परिपुष्ट होने वाला यह विलक्षण शास्त्र राष्ट्र, जाति, समाज, वर्ण, वर्ग, लिङ्ग, देशकाल, उपासना–पद्धति, तांत्रिक क्रिया आदि किसी भी अवच्छेदक को अपनी विशुद्धता और पूर्णता के लिए विकार या कलंक मानता है। इस दृष्टि से दर्शन का सम्बोध्य देशादि सीमाओं में बंधा हुआ कोई व्यक्ति या वर्ग–विशेष न होकर विश्वमानव है। सभी उपकारकों सहित इसी का पूर्णत्व और कल्याण दार्शनिक चिन्तन है।

समस्याप्रिय शास्त्र

दर्शन समस्या–प्रिय शास्त्र है। समस्या की दीपशिखा को नित्य–निरन्तर प्रज्वलित रखना इसके जीवन और अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। समस्याएँ दर्शन का भोजन हैं, पाथेय हैं, शक्ति हैं, प्राण हैं, जीवन हैं। ये जितनी प्रबल, गंभीर, व्यापक और जटिल होंगी दर्शन उतना ही पुष्ट होगा, उसकी समाधान–क्षमता उतनी ही मुखरित होगी।

साधारण और सरल समस्या को असाधारण और जटिल बना देने की कला में दर्शन अत्यन्त निपुण है। अन्य शास्त्रों द्वारा तिरस्कृत या अस्पृष्ट समस्याओं के लिए यह स्थाई आतुरालय है। यही नहीं अन्य शास्त्रों द्वारा प्रदत्त समाधानों को भी समस्या बनाना और फिर

अपनी विशिष्ट शैली में उनका समाधान खोजना इसकी विशेषता है, इसका स्वभाव है। अतः सर्वप्रथम तो यह किसी समस्या के अन्तिम निर्विवाद समाधान तक पहुँचता ही नहीं और यदि कभी ऐसा अवसर आ ही गया तो यह उस समाधान अथवा निष्कर्ष को विज्ञान या अन्य शास्त्र को समर्पित कर अपनी क्षुधा–शान्ति के लिए किसी अन्य समस्या से जूझना प्रारम्भ कर देता है। वैसे समस्याओं की जुगाली करने की इसकी क्षमता अद्‌भुत और विलक्षण है, क्योंकि यह एक ही समस्या की हजारों वर्षों तक जुगाली करने में सक्षम है।

सभी दर्शन–सम्प्रदाय स्वयं को पूर्ण मानते हैं और अपने–अपने दृष्टिकोण से सभी समस्याओं के स्थाई समाधान प्रस्तुत करने का दम्भ भरते हैं। किन्तु दूसरी ओर, दूसरा सम्प्रदाय इस दम्भ को सर्वथा मिथ्या सिद्ध करने के लिए सर्वदा तत्पर रहता है। इसे दर्शन–सम्प्रदायों की परस्पर दुरभिसन्धि भी कहा जा सकता है कि वे अन्य शास्त्रों से समस्या का भोजन प्राप्त न होने पर एक दूसरे को जीवित रखने के लिए स्वयं ही समस्याओं का आदान–प्रदान करते रहते हैं। यही कारण है कि चार्वाक से लगाकर वेदान्त, बौद्ध तक सभी दर्शन तीक्ष्णतम तर्कों द्वारा खण्डन–मण्डन में जुटे रहकर भी एक दूसरे को सर्वथा विनष्ट या निःशेष नहीं कर पाए हैं। अन्यथा एक उत्तरपक्ष द्वारा एक पूर्वपक्ष का एक बार खण्डन करने के बाद उस पर उत्तरपक्ष के परवर्ती आचार्यों द्वारा उसी का बार–बार खण्डन करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी। इससे स्पष्ट है कि पूर्वपक्ष के सर्वथा संहार में किसी उत्तरपक्ष की रुचि नहीं है क्योंकि पूर्वपक्ष ही उत्तरपक्ष की सामर्थ्य की अभिव्यक्ति का पूर्व सोपान है। अतः कोई भी समाधान सर्वदर्शन–सामान्य नहीं बन पाता। अन्तिम और पूर्ण सत्य अभी भी दर्शन का जिज्ञास्य है। मानव के आविर्भाव के साथ उदित होने वाली इस जिज्ञासा का आरम्भ जितना निश्चित है, अन्त उतना ही अनिश्चित। यह अनन्त यात्रा का शास्त्र है। पूर्ण सत्य का निरन्तर अनुसंधान दर्शन की नियति है। नियति की इस दासता का इस उमापति ने स्वयं वरण किया है। अतः अगणित समाधानों और निष्कर्षों की सरिताएँ भी इस महासमुद्र की मर्यादा को भंग नहीं कर पाई हैं।

प्रासङ्गिकता का प्रश्न

प्रथम दृष्टि से विचार करने पर दर्शन की प्रासङ्गिकता का प्रश्न ही अप्रासङ्गिक प्रतीत होता हैं क्योंकि–

१. दैनिक जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं और अपने अस्तित्व के लिए प्रतिक्षण संघर्ष कर रहे निरीह मानव को ब्रह्म–आत्मा, मोक्ष–निर्वाण, स्वर्ग–नरक जैसी चर्चाओं में व्यस्त करना अत्यन्त अव्यावहारिक एवं अन्यायपूर्ण है।

२. दर्शन के अनेक सिद्धान्त वैज्ञानिक शोधों के समक्ष निरर्थक और मिथ्या सिद्ध हो चुके हैं।

३. विश्व का प्रत्येक कण अथवा अणु और इसके प्रत्येक पक्ष का अध्ययन करने वाले सभी शास्त्र और विज्ञान उपयोगी हैं; तब दर्शन की उपयोगिता भी स्वयंसिद्ध है।

४. मनुष्य के विकास के साथ ज्ञान की सभी शाखाओं का विकास, विस्तार और प्रचार बढ़ रहा है और यही स्थिति दर्शन की भी है। इतिहास–दर्शन, विज्ञान–दर्शन, गणित–दर्शन, अर्थशास्त्र–दर्शन, समाजशास्त्र–दर्शन, कला–दर्शन आदि प्रशाखाओं के रूप में दर्शन का समृद्ध होता संसार, विश्वविद्यालयों में खुलते नये विभाग, पाठ्यक्रम, नयी शोध–योजनाएँ, नियुक्तियाँ, समितियाँ, सभा–सम्मेलन, गोष्ठियाँ, उनमें उठे विवाद, पारित होते प्रस्ताव, बढ़ते प्रभाव आदि स्वयं वर्तमान में इसकी महत्ता और उपयोगिता के प्रमाण हैं।

अतः दर्शन को वर्तमान के लिए सर्वथा अनुपयोगी मानें अथवा उसकी उपयोगिता को स्वयंसिद्ध मानें, दोनों ही स्थितियों में दर्शन की प्रासङ्गिकता पर विचार व्यर्थ है– ऐसा पूर्वपक्ष बनता है।

विचार की आवश्यकता

पूर्वोक्त समस्त आपत्तियों के रहते हुए भी दर्शन की प्रासङ्गिकता विचारणीय है क्योंकि–

१. दर्शन की प्रकृति–प्रवृत्ति एवं उसके भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों पर समय–समय पर उठने वाली आपत्तियों और भ्रान्तियों का निराकरण आवश्यक है।

२. ज्ञान और अनुभव की निरन्तर पुनरावृत्ति समाज के लिए आवश्यक है। ईश्वर–आत्मा सत्य–नित्य है तथा प्रेम, अहिंसा, करुणा आदि सद्गुण शाश्वत हैं– ऐसा मान लेने पर भी इसकी पुष्टि, प्रचार और अभ्यास, प्रतिक्षण बदलते परिवेश में, आवश्यक है। सुकरात, याज्ञवल्क्य, बुद्ध, शंकर, गांधी, कबीर, मार्क्स, अरविन्द आदि दार्शनिक यद्यपि देश–काल के खण्ड–विशेष में प्रादुर्भूत हुए थे, किन्तु उनके सिद्धान्तों की सार्वकालिकता, हर बदलते परिवेश में परखे बिना स्थापित करना संभव नहीं है।

३. दुःख–क्लेश, अशान्ति, अज्ञान, हिंसा, जन्म–मरण, पदार्थों और जीवों के परस्पर सम्बन्ध आदि मानव की स्थायी समस्याएँ हैं जो मुक्ति की उसकी जिज्ञासा को सदैव प्रदीप्त रखती हैं। अतः ऐसी स्थायी समस्याओं से जूझने वाले शास्त्र की सदैव आवश्यकता होती है।

४. सभी शास्त्रों में, समय के साथ नये तर्कों, प्रयोगों और सिद्धान्तों का समावेश हो रहा है। अतः उनके दिशा–निर्देशक और समन्वयक इस शास्त्र की नित्य प्रबुद्धता आवश्यक है।

५. समाज की वर्तमान दुर्दशाओं का एक गंभीर कारण दार्शनिक चिन्तन की उपेक्षा और उसके दिशा–निर्देशों के प्रतिकूल व्यवहार है। अत: ये दुर्दशाएँ दर्शन की आवश्यकता और महत्ता को स्थापित करती हैं। रावण की प्रवृत्तियाँ राम की प्रासंगिकता के लिए उत्तरदायी हैं। 'अधर्म का अभ्युत्थान' धर्म के अवतार की भूमिका है।

६. क्षणिक वर्तमान, कालातीत दर्शन को अप्रासंगिक सिद्ध करने में असमर्थ है।

७. एक दर्शन–सम्प्रदाय या उसके कुछ सिद्धान्तों की वैज्ञानिक कसौटी पर खरा न उतरने के कारण वह दर्शन–सम्प्रदाय या सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र अनुपयोगी और असत्य सिद्ध नहीं हो जाता। एक चिकित्सक, राजनेता, ज्योतिषी अथवा एक पद्धतिविशेष के असफल सिद्ध होने पर समग्र चिकित्साशास्त्र, राजनीतिशास्त्र अथवा ज्योतिषशास्त्र को असफल और अनुपयोगी घोषित नहीं किया जा सकता। स्वयं विज्ञान के सिद्धान्त भी प्रयोगों के अधीन होने से, सतत परिवर्तनशील हैं।

८. वर्तमान के कारण ही दर्शन भूत–भविष्य से जुड़ा है– चाहे यह वर्तमान कपिल का काल हो या अरविन्द का।

९. दर्शन की वर्तमान में प्रासङ्गिगकता का यह तात्पर्य नहीं है कि वह भूत–भविष्य से निरपेक्ष केवल वर्तमान के लिए ही उपयोगी है। गंगा के प्रवाह पर केवल वर्तमान काशी का ही एकाधिकार नहीं है। वह वर्तमान काशी की होकर भी हिमालय और सागर के लिए तथा सार्वकालिक काशी के लिए प्रवाहित है।

प्रासङ्गिक समस्याएँ

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में जिन समस्याओं के उद्घोष से पुस्तकालय, सभा–सम्मेलन, आयोग आदि व्यस्त और त्रस्त हैं उनमें कुछ प्रमुख हैं राष्ट्रवाद, आतंकवाद, मूल्यों का ह्रास, दारिद्रय, विविध रोग आदि। इनमें से प्रत्येक समस्या अन्य अनेकानेक छोटी–बड़ी, साधारण और गंभीर, क्षणिक और चिरस्थाई, व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं का कारण है। इन्हें राजनीतिक, सामाजिक आदि वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है, किन्तु इनके मूल का अनुसंधान स्वयं अपने आप में एक गंभीर समस्या है। दर्शन के विश्लेषण के अनुसार इन समस्याओं के तीन मूल कारण और वर्ग हैं– अशिक्षा, अहंकार, और दारिद्रय।

प्रत्यक्ष शास्त्रों की भूमिका

उपर्युक्त समस्याओं के अध्ययन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े राजनीति आदि शास्त्रों की भूमिका का दर्शन–दृष्टि से समालोचन आवश्यक है–

राजनीतिशास्त्र–

१.(अ) राजनीतिशास्त्र मानव–कल्याण के लक्ष्य का चाहे जितना उद्घोष करे, किन्तु वस्तुत:

इसकी आधार–भूमि व्यक्ति, दल और वाद, का अहंकार है। इनकी सत्ता और प्रभाव का विस्तार उसका लक्ष्य है। मानव–मानव में भेदभाव उसकी नीति है। जो राजनेता अपनी इन्द्रियों और मन को वशीभूत नहीं कर सकता, राजनीतिशास्त्र उसे विश्व को वश में करने की कला सिखाता है।

(ब) राजनीतिशास्त्र के शुभाशुभ के मूल्य सीमित, सापेक्ष और परिवर्तनशील हैं। एक राष्ट्र वधकर्म के लिए वधिक को पुरस्कृत करता है तो दूसरा राष्ट्र उसे दण्डनीय मानता है। एक दल में जो आचरण उचित है वही दूसरे दल में सर्वथा अनुचित। एक वाद जिस विचार के प्रसार को मानव–कल्याण के लिए आवश्यक मानता है, दूसरा वाद उसी विचार को घातक मानता है। राजनीतिक अहंकार व्यक्ति और समाज के स्वातंत्र्य और गौरव का अपहरण और हनन करके उनको अपनी महत्त्वाकांक्षा–पूर्ति का माध्यम बनाता है।

अतः यदि किसी एक दल, राष्ट्र या वाद की सम्पूर्ण विश्व में स्थापना हो जाय तब भी क्या विश्वमानव सुखी, सम्पन्न, प्रसन्न और शान्त हो जाएगा, इसका प्रतिवचन राजनीति के पास नहीं है।

अर्थशास्त्र–

२.(अ) अर्थशास्त्र अर्थ के अर्जन, वितरण और विनिमय का शास्त्र है। प्रत्येक देश की सामाजिक–सांस्कृतिक विचारधाराओं, महत्त्वाकांक्षाओं और प्राथमिकताओं में भेद के कारण इसके मूल्य भी संकुचित और परिवर्तनशील हैं। इसकी धन, धनिक और निर्धन की परिभाषाएँ सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हैं। समाज–विशेष या राष्ट्रविशेष को समृद्ध बनाने की इसकी नीतियों और उत्साह में अन्य राष्ट्रों की समृद्धि के लिए कोई स्थान नहीं है। समग्र विश्व की सार्वजनीन अर्थव्यवस्था की कल्पना का यहाँ अभाव है। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर यदि इस प्रसंग में थोड़ी बहुत चिन्ता प्रकट की जाती है तो उसका कारण राजनीति से इसकी दुरभिसन्धि है।

(ब) मात्र धन और भौतिक सुख को ही मानव की समृद्धि का माध्यम व प्रतीक मानने वाले इस शास्त्र ने मानव को भी एक भौतिक वस्तु बना दिया है। यदि भौतिक समृद्धि ही मानव–सुख का कारण होती तो आज के सम्पन्न परिवारों और राष्ट्रों में सर्वाधिक सुख–शान्ति होती। किन्तु इसके विपरीत वहाँ मानसिक तनाव, हिंसा, मानव–मूल्यों का ह्रास, स्वार्थ, अहंकार, वर्गभेद, कामलोलुपता के प्रचुर उदाहरण दिखाई दे रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि अर्थ की सामर्थ्य सीमित है, इसका लक्ष्य सीमित है और अर्थ ही मानव का सर्वस्व नहीं है।

अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का मार्ग तो प्रशस्त करता है किन्तु वह व्यक्ति, समाज

और राष्ट्र के लिए अर्थ की पात्रता व मर्यादा निश्चित नहीं करता। अर्थ के संग्रह, व वस्तु के उपभोग की व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सन्दर्भ में पात्रता सुनिश्चित नहीं करता, अर्थ के कारण समाज में घटने वाले अनर्थों से उसका कोई सरोकार नहीं। वह मुनि बनने की संभावना वाले मनुष्य को मुनीम बनाकर गौरव का अनुभव करता है।

अत: अर्थशास्त्र मानव–समाज में अनेक समस्याओं का जन्मदाता है तथा उसके गौरव को संकुचित करनेवाला शास्त्र है। फिर भी समस्याओं के एक मूल दारिद्रय को दूर करने में इसकी सीमित भूमिका के लिए इसे राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा कम हानिकारक माना जा सकता है।

समाजशास्त्र

परिवार को लघुतम इकाई मानकर उसके द्वारा समाज के कल्याण का संकल्प लेने वाला यह शास्त्र भी अपने मूल्यों और मानदण्डों के लिए कभी धर्मशास्त्र, कभी राजनीतिशास्त्र और कभी अर्थशास्त्र पर निर्भर रहता है। देश–काल, के संदर्भ में इसके मूल्य भी बदलते रहते हैं। वर्ण, वर्ग, जाति, लिङ्ग आदि के भेदों ने इसके समाज में विश्व मानव के लिए कोई स्थान सुरक्षित नहीं रखा है। इसने मनुष्य पर जाति, वर्ग, धर्म के लेबिल लगाकर उसकी सही पहिचान से उसे वंचित किया है। रीति–रिवाजों, अन्धविश्वासों के क्रिया–कलापों में उसे व्यस्त और त्रस्त रखकर उसके स्वातंत्र्य और गौरव को संकुचित किया है। अत: यह शास्त्र विश्वकल्याण का लक्ष्य रखते हुए भी परशास्त्राभिमुखता के कारण अपने सीमित लक्ष्य को प्राप्त करने में भी असमर्थ रहा है तथा समाधान देने की अपेक्षा समस्याएँ बढ़ाने में अग्रणी रहा है।

भारत के सन्दर्भ में देखें तो जनसंख्या–नियंत्रण, बालविवाह, दहेज़, नारी–स्वातंत्र्य, पारिवारिक–विघटन, जातिवाद, विवाह–संस्था आदि की अवधारणाएँ समय–समय पर बदलती रही हैं। कभी इन्हें समस्या कहा गया, कभी समाधान।

एक राजनीतिक, धार्मिक विचारधारा के प्रभाव में एक समाज, जिस आचरण को उचित मानता है दूसरा समाज उसी को असामाजिक।

चिकित्साशास्त्र

सबके स्वास्थ्य की चिन्ता से सतत अस्वस्थ रहने वाला चिकित्साशास्त्र अद्यावधि स्वास्थ्य की परिभाषाओं, बीमारी के कारणों और चिकित्सा उपायों के सार्वकालिक निष्कर्षों के बारे में भ्रम और अनिश्चय की स्थिति में है। सबको स्वस्थ बनाने के संकल्प की शपथ लेने वाले इस शास्त्र के साथ विडम्बना यह है कि इसके मत में कोई भी मनुष्य पूर्ण स्वस्थ नहीं है। इस शास्त्र में भी देशकाल के भेद से सुस्वास्थ्य के नियम बदलते रहते हैं। यह मानव शरीर को यन्त्रवत् समझकर प्रवृत्त होता है और आत्मा, चैतन्य, जन्म–जरा–मृत्यु, मानसिक चमत्कारों

को एक सीमित दायरे में ही देख–परख सकता है। शरीर–मन के अनेकानेक आध्यात्मिक प्रश्नों, मृत्यु के पूर्व और पश्चात् के जीवन आदि पर यह कुछ भी टिप्पणी न कर पाने के लिए विवश है।

शिक्षाशास्त्र

शिक्षा–सबको शिक्षा, सुसंस्कार, सबका सर्वांगीण विकास, ज्ञान–विज्ञान का आदान–प्रदान, जीवन–मूल्यों के परिचय और अभ्यास का यह परमोपयोगी शास्त्र भी देश–कालादि निरपेक्ष शिक्षा–दर्शन के बिना अपूर्ण और संकुचित है। राजनीति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के सदियों से चले आ रहे अनुचित हस्तक्षेप ने इस पवित्र समाधान को किस प्रकार समस्या बना दिया है इसका प्रमाण साम्प्रतिक शिक्षा–संस्थान स्वयं हैं। विश्वमानव के पूर्ण स्वरूप का आत्मबोध कराने और लोककल्याण की पर्याप्त सामर्थ्य से सम्पन्न इस शास्त्र को कतिपय दुराग्रहों ने स्वार्थ–पूर्ति का साधन बनाकर इसे प्रदूषित किया है।

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र विश्वमानव के उदात्त मूल्यों के अभ्यास का शास्त्र है। किन्तु धार्मिक सम्प्रदायों के व्यापक प्रभाव–प्रचार में साम्प्रदायिकता विस्तार पा गयी और विशुद्ध धर्मतत्त्व पीछे छूट गया। इसीलिए जो धर्म समाधान था, वह समस्या बन गया। मानवों का संयोजक, विभाजक बन गया। शान्ति का दूत, युद्ध और संघर्ष का सूत्रधार बन गया। विभिन्न धर्मग्रन्थों और प्रधान आचार्यों के गिरि–उपदेशों से निकली धार्मिक जीवन–शैलियों की सरिताएँ विश्वशान्ति और विश्वकल्याण के महासागर तक पहुँचने से पूर्व ही साम्प्रदायिकता की बाढ़ बन गई, सामाजिक विध्वंस का कारण बन गई। राजनीति, अर्थ आदि के आकर्षक सितारों से खुद को सजाकर इस साध्वी ने अपने अनुभवों के वार्धक्य को विकृत कर लिया। इससे अन्य शास्त्रों को तो लाभ हुआ, किन्तु धर्म का गौरव धराशायी हो गया। उसकी पावन सुगन्धि से विश्वमानव अपने जीवन को सुवासित करने से वंचित ही रहा। अन्य शास्त्रों से निराश और त्रस्त मानव ने अत्यन्त श्रद्धा और विश्वासपूर्वक गांगेय जल के लिए हाथ पसारे, किन्तु उसे पोखरे का प्रदूषित पानी मिला।

दर्शन ने अन्य शास्त्रों की तुलना में धर्म को सदैव अधिक महत्त्व दिया है, उसे महत्तर माना है, अपना सहोदर बनाया है। विभिन्न सम्प्रदायों के उन्माद, दुष्प्रचार, परस्पर टकराव, दुरुपयोग आदि को नियन्त्रित और अनुशासित करने तथा उसे न्यायपूर्ण, सुसंगत और वास्तविक अर्थ में कल्याणकारी बनाने की सामर्थ्य केवल दर्शन में है। दर्शन ही धर्म के सत्य–शुभ, सुख–कल्याण को सुदृढ तार्किक आधार दे सकता है। अन्य शास्त्रों की आलोचना से उसकी रक्षा कर सकता है। अतः धर्म जब तक और जितना दर्शन की ठोस जमीन पर खड़ा है तब तक और उतना वह समाधान है, अन्यथा समस्या है।

अशिक्षा अहंकार और दारिद्रय जैसी मूलभूत समस्याओं के समाधान में प्रत्यक्ष शास्त्रों की सामर्थ्य और सीमाओं के उपर्युक्त आकलन के बाद, सूत्ररूप में सामान्य दर्शन—दृष्टि से इन पर टिप्पणी आवश्यक है।

लोक—व्यवहार में एक विशेष प्रकार का त्रिक दिखाई देता है, जिसे विविध प्रसंगों में भोक्ता, भोग्य और भोग; शोषक, शोषित और शोषण; प्रशासक, प्रशासित और प्रशासन; भक्त, भगवान् और भक्ति आदि शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है। दर्शन की शब्दावली में इसे स्व (अहम्), जगत् (इदम्) और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध कहा जाता है। अत: मनुष्य के अपने और जगत् के वास्तविक स्वरूप के साथ दोनों के परस्पर यथार्थ सम्बन्ध का सम्यक् ज्ञान शिक्षा है तथा इससे भिन्न या अन्यथा ज्ञान अथवा इस सम्यक् ज्ञान की उपेक्षा करना अशिक्षा है। जिस शिक्षा में इन तीनों ज्ञानों का जितना सुन्दर समन्वय होगा वह शिक्षा उतनी ही सार्थक, सुखद और सभी के लिए कल्याणप्रद होगी।

मानव के विकास का इतिहास देखें अथवा उसके पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की घटनाओं, संघर्षों, तनावों और टकरावों का विश्लेषण करें तो सबके मूल में, अहंकार का ही बीज दिखाई देता है। यह अहंकार कभी व्यक्ति, कभी जाति और कभी समाज, दल, राष्ट्र या मानव—समूह के नाम पर उभरता है, किन्तु होता यह अहंकार ही है। दर्शन और दार्शनिक जिस ईमानदारी, दृढता और तीक्ष्णता से इसे मानव की नाना समस्याओं का मूल घोषित करते हैं, उस पर चोट करते हैं और इसे विगलित करने के उपाय बताते हैं वह अद्वितीय और विलक्षण है।

इसी प्रकार दर्शन की दृष्टि में दारिद्रय की जननी तृष्णा है तथा इसका विनाश ही दारिद्रय का स्थाई समाधान है।

अन्य प्रत्यक्षशास्त्र अशिक्षा, अहंकार और दारिद्रय जैसी मूलभूत समस्याओं के मूल का अनुसंधान किये बिना उनका सतही और क्षणिक समाधान खोजते हैं तथा कभी—कभी समाधान के स्थान पर, जाने—अनजाने उक्त समस्याओं को बढ़ाने में सहायक बन जाते हैं और तब भी केवल क्षणिक वर्तमान और प्रत्यक्ष से जुड़े होने के कारण दर्शन की तुलना में अधिक प्रासङ्गिक मान लिये जाते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। काल की व्यापकता और समाधान के स्थायित्व आदि की दृष्टि से इन प्रत्यक्ष शास्त्रों की वर्तमान में प्रासङ्गिकता गुण होते हुए भी दोष है, जबकि भेदभावों से परे मानवमात्र के कल्याण का सार्वकालिक स्थायी समाधान प्रस्तुत करने वाले दर्शनशास्त्र को, वर्तमान मात्र को महत्त्व न देने के कारण, यदि अप्रासङ्गिक कहा जाय, तो यह उसके लिए दूषण नहीं, भूषण ही है।

ईश्वर

सर्वाधिक विवादास्पद विषय

ईश्वर की अवधारणा का सम्बन्ध जीवन और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र से है। यह अवधारणा स्वीकार या निषेध की चर्चाओं में प्रत्येक देश-काल में विद्यमान रही है। अत: इसे विश्व का सर्वाधिक विवादास्पद विषय कहा जा सकता है। मानव-इतिहास में उभरे अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक विवाद न्यूनाधिक समय तक चलने के बाद सुलझ गये या शान्त हो गये किन्तु यह विवाद अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा – ऐसी संभावना है। हाँ, नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा बदलते हुए मानव-मूल्यों की चुनौतियों में इस विवाद का स्वरूप बदलना अवश्य ही स्वाभाविक है।

दो दृष्टियाँ

ईश्वर की अवधारणा पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है– लोक-दृष्टि एवं शास्त्रीय दृष्टि। प्रथम दृष्टि का सीधा सम्बन्ध समाज और आम आदमी के दैनिक जीवन से है जब कि दूसरी दृष्टि मुख्यत: सैद्धान्तिक है और जिसका सम्बन्ध ज्ञान-विज्ञान और उसकी सभी शाखाओं से है।

लोक-दृष्टि

समाज में मान्य, प्रचलित एवं प्रतिष्ठित ईश्वर व्यक्तिगत आस्था, विश्वास व श्रद्धा का ईश्वर है। इसके स्वरूप और प्रभाव के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की धारणा भिन्न-भिन्न होती है। प्रति व्यक्ति इसकी पूजा-विधि में भेद है। यह ईश्वर व्यक्ति के मनोविज्ञान, संस्कारों और परम्परागत प्रभावों से कल्पित है। अत: इसमें व्यक्ति का पूर्ण स्वातंत्र्य सुरक्षित है। इष्ट देवी-देवता और उनकी पूजा-आराधना इसी कोटि गें आते हैं। यह वस्तुत: ऐसी आस्था है जिसमें तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके कारण समाज में न कभी विवाद और संघर्ष हुआ है, न होना चाहिये। किन्तु इसी सरल और पवित्र आस्था को जब परिवार, समूह, समाज या देश पर प्रचार, आडम्बर, कुतर्क, राजनैतिक प्रभाव आदि के द्वारा दुराग्रहपूर्वक थोपने का प्रयास किया जाता है, यही आस्था जब धर्म का चोला पहिनकर व्यक्ति को छोड़ समाज को प्रभावित करने का प्रयास करती है तो इसकी सरलता समाप्त हो जाती है, पवित्रता विकृत हो जाती है और शक्ति क्षीण हो जाती है। ऐसी आस्था समाज में विवाद, अशान्ति और विविध प्रकार के संघर्षों का कारण बन जाती है। अत: यह आस्था मर्यादा में रहे तो

सीता है और मर्यादा का उल्लघंन करे तो संघर्ष की शूर्पणखा है। ऐसी आस्था का समर्थन न सहयोग न समाज का हृदय करता है और न ही शास्त्रों की बुद्धि।

शास्त्र-दृष्टि

शास्त्रीय दृष्टि से भी ईश्वर पर कई प्रकार से विचार किया गया है तथा आगे भी कई प्रकार से विचार होगा। किन्तु इस विचार-प्रक्रिया का प्रथम सोपान तो यही है कि क्या ईश्वर दुनिया की अन्य वस्तुओं की तरह जानने योग्य कोई वस्तु है? अन्य वस्तुओं को जानने के हमारे साधन, हमारी शक्ति ही जब सीमित है, ईश्वर के अलावा भी भौतिक जगत् की अनेक ऐसी वस्तुएँ और जानकारियाँ हैं जहाँ अब तक मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान नहीं पहुँच पाया है तब क्या ईश्वर जैसे सर्व-व्यापक व गूढ़ तत्त्व को जानने का कोई अभियान सार्थक हो सकता है और किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचना संभव है? नि:सन्देह यह कार्य असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य है ही, ऐसा जानते हुए जिज्ञासु प्रकृति वाला मनुष्य अगणित वर्षों से उसकी खोज में लगा है और उसे अपनी जिज्ञासा-यात्रा का सबसे बड़ा और अन्तिम पड़ाव सिद्ध करने अथवा असिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है।

विविध पक्ष

ईश्वर की व्यापक अवधारणा का सम्बन्ध यद्यपि ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं से घनिष्ठ रूप से है किन्तु धर्म, दर्शन और नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में ही इस पर विस्तृत और गहन विचार मिलते हैं। विज्ञान, गणित, राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, वाणिज्य आदि की पुस्तकों में ईश्वर-चर्चा भले ही न हो किन्तु वैज्ञानिकों, गणितज्ञों, चिकित्सकों, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों आदि के जीवन में, राजनीति, समाज और व्यापार में वह प्रभावशाली रूप में विद्यमान है। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि ईश्वर-विचार का साक्षात् एवं घनिष्ठ सम्बन्ध धर्म, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष, स्वर्ग, भाग्य, पुरूषार्थ, कर्मवाद, आस्तिकता-नास्तिकता, जीवनमूल्य, नैतिकता, सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह आदि से है। इन पक्षों से संगति की सिद्धि पर ही ईश्वर की सार्थकता और सफलता निर्भर है।

चार वर्ग

धर्म, दर्शन और नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त ईश्वर-विचार को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ के मत में 'ईश्वर है', कुछ के मत में 'ईश्वर नहीं है'। कुछ विचारक 'ईश्वर है, नहीं है' के विवाद से परे हटकर मानते हैं कि 'ईश्वर आवश्यक है'। चौथा वर्ग ईश्वर की अवधारणा को अनावश्यक और कुछ हद तक हानिकारक मानता है।

सङ्गति आवश्यक

जो मत ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं उनके लिए आवश्यक है कि वे उसके स्वरूप व प्रयोजन को स्पष्ट करें और जीव-जगत् धर्म, ज्ञान, भक्ति, स्वर्ग, मोक्ष, भाग्य, पुरुषार्थ, कर्मवाद, जीवन-मूल्य, नैतिकता, सृष्टि, भूमिका, संहार, निग्रह, अनुग्रह आदि से उसके सम्बन्ध, इन सबके बारे में उसकी भूमिका, योगदान आदि पक्षों पर युक्तियुक्त, सुसंगत और सप्रमाण विचार प्रस्तुत करें। इसी प्रकार निरीश्वरवादियों के लिए आवश्यक है कि वे ईश्वर अथवा उसके किसी भी पर्याय को बिना माने उक्त सभी बातों की सुसंगत एवं सन्तोषप्रद व्याख्या प्रस्तुत करें।

दर्शन–सम्प्रदायों द्वारा उपेक्षा

भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदायों ने ईश्वर की अवधारणा के साथ न्याय नहीं किया है। कुछ ने उसे सर्वथा अस्वीकृत किया है और कुछ ने पूर्ण गौरव के साथ उसे स्वीकार नहीं किया है। चार्वाक, जैन व बौद्ध ईश्वर–विरोधी हैं। सांख्य निरीश्वरवादी है। योग दर्शन ने इसे पुरूष–विशेष, एकाग्रता का सहयोगी और निमित्तकारण मानकर तथा सृष्टि आदि में इसकी कोई भूमिका न मानकर इसके स्वरूप को संकुचित किया है। न्याय दर्शन के सोलह तत्त्वों और वैशेषिक के सात पदार्थों में यह परिगणित नहीं है। उत्तरकालीन न्याय–वैशेषिक में सृष्टिकर्ता और कर्मफलदाता के रूप में कल्पित ईश्वर का निमित्तकारणत्व संकुचित स्वरूप में उल्लिखित है, वह पूर्ण शक्ति और गौरव के साथ स्थापित नहीं है। मीमांसा के वेद–याग–स्वर्ग के सिद्धान्त में ईश्वर का स्थान नहीं है। अद्वैत वेदान्त के शक्ति–शून्य व जड–तुल्य ब्रह्म से किसी कर्तृत्व की अपेक्षा व्यर्थ है, उसका होना न होना एक समान है। इस प्रकार दस प्रमुख भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में केवल काश्मीर शैव दर्शन ही एकमात्र ऐसा सम्प्रदाय है जो ईश्वर के अस्तित्व, स्वरूप, प्रयोजन, जीव–जगत् से उसके सम्बन्ध आदि की सम्यक्, युक्तियुक्त, प्रामाणिक और संतोषप्रद व्याख्या करता है।

सर्वोत्तम खोज

धर्म और नीतिशास्त्र के कुछ विचारक लोक–रक्षा, कल्याण, विकास, नियम–अनुशासन आदि की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना परम आवश्यक और उपयोगी मानते हैं। उनके मत में प्रत्येक देश–काल में, धर्म–सम्प्रदायों में अनादि काल से चली आ रही ईश्वर की मान्यता स्वयं समाज के लिए उसकी अपरिहार्यता सिद्ध कर चुकी है। इस वर्ग के मत में ईश्वर मानव की सर्वोत्तम खोज है, उसके सांस्कृतिक विकास का चरमोत्कर्ष है, उसके जीवन की सबसे बड़ी शक्ति व प्रेरणा है और उसका सर्वोच्च आदर्श व मूल्य है।

मानव–स्वातंत्र्य की हानि

उपर्युक्त मत के सर्वथा विपरीत अन्य वर्ग का अनुभव है कि ईश्वर को मानने से मनुष्य के पुरुषार्थ, गौरव और स्वातंत्र्य की हानि हुई है। भाग्यवाद, परमुखापेक्षिता, आडम्बर और आलस्य की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला है। ईश्वर के साथ धर्म, सदाचार, कर्मवाद आदि का अपरिहार्य सम्बन्ध स्थापित करके ईश्वरवादियों ने स्वयं ईश्वर की अवधारणा को विकृत किया है और इस विकृति से समाज का अहित हुआ है। अधर्म का नाश, धर्म की स्थापना आदि कार्यों के लिए मानव का पग–पग पर ईश्वर को पुकारना क्या उसकी दुर्बलता, परमुखापेक्षिता, अकर्मण्यता और आत्म–विश्वासशून्यता का प्रमाण नहीं है? अपने अज्ञान, दु:ख व दारिद्रय को दूर करने के लिए वह कब तक अवतारों की बाट जोहता रहेगा? आखिर कब तक मनुष्य ईश्वर की अंगुलि पकड़कर चलता रहेगा? सच तो यह है कि ईश्वर–केन्द्रित मूल्य धराशायी हो चुके हैं। ग्रन्थों में वर्णित ईश्वरवाद का समाज में कहीं दर्शन नहीं होता समाज के व्यवहार से पुस्तकीय ज्ञान की कोई संगति दिखाई नहीं देती। मंदिर–मस्जिद, गिरिजा–गुरुद्वारों में बढ़ती भीड़ को सच्चे ईश्वरवाद का प्रमाण नहीं माना जा सकता। किताबों का ईश्वर समाज के जीवन में उतरने और उसके कल्याण के लिए है या केवल शास्त्रीय ग्रन्थों, स्तुति–स्तोत्रों, विद्वानों के मानसिक व्यायामों और वाक्–पटुता के प्रदर्शनों के लिए है?

सामञ्जस्य

ईश्वर–विचार को दो दृष्टियों और चार वर्गों में विभाजन के उपर्युक्त विवरण से दो प्रश्न खड़े होते हैं– आस्था और ज्ञान के मार्गों में कैसे सामञ्जस्य स्थापित किया जाए? ईश्वरवादियों और निरीश्वरवादियों के तीक्ष्ण मतभेद को कैसे दूर किया जाए? उत्तर यही है कि तटस्थता और निष्पक्षता से विचार करने पर कुछ उपाय सोचे जा सकते हैं। दोनों में समानता के सूत्र ढूँढ़कर सुखी, उन्नत और परस्पर प्रेम–सद्भाव से सम्पन्न समाज का निर्माण संभव है।

अवलोकनीय बिन्दु

इस प्रसंग में अधोलिखित तथ्य, निष्कर्ष और उपाय अवलोकनीय हैं :–

१. केवल बौद्धिक विवाद से जीव–जगत् की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान संभव नहीं है।

२. ईश्वर की सम्यक् अवधारणा न होना अथवा होने पर उसकी व्यवहार से सुसंगति न होना तथा निरीश्वरवादी का स्वच्छन्द और मूल्यविहीन व्यवहार, दुराग्रह आदि ही मानव–समाज की समस्याओं का मूलकारण है।

३. ईश्वर यदि है तो वह एक ही है, एक ही हो सकता है– यह निर्विवाद है। ईश्वर के समर्थन और विरोध में तर्क प्रस्तुत करने वाले दोनों पक्ष इससे सहमत हैं। अत: लौकिक या शास्त्रीय, आस्था या ज्ञान किसी भी दृष्टि से देखें, यदि ईश्वर है तो एक है, अन्यथा नहीं है।

४. आस्थावादी एवं ज्ञानमार्गी एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करें। ज्ञानमार्गी आस्था का उपहास न करें। उसे चुनौती न दें, उसका तिरस्कार न करें तथा आस्थावादी ज्ञानमार्ग की कटु, तीक्ष्ण बौद्धिक बहस से प्रभावित न हों। इस मर्यादा और सहनशीलता की रक्षा प्राचीन भारत में होती रही है। भारतीय दर्शन के नाना सम्प्रदायों में वेद, ईश्वर, धर्म आदि विषयों पर गंभीर, विस्तृत और तीखी युक्तियों का आदान–प्रदान हुआ। किन्तु उससे समाज का हित ही हुआ, अहित नहीं।

५. ढोंगी ईश्वरवादी से सच्चा नास्तिक बेहतर है। ईश्वर के नाम पर आडम्बर करना, संकुचित विचार रखना तथा निरीश्वरवादी बनकर स्वच्छन्द और मूल्यविहीन जीवन जीना सबसे बड़ा पाप है।

६. ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों ही सिद्धान्त सप्रयोजन हैं, दोनों की मूल भावना लोक–कल्याण की है। दोनों ही मनुष्य को स्वस्थ, तनाव–शून्य, प्रसन्न और श्रेष्ठ विचार व व्यवहार से सम्पन्न बनाना चाहते हैं।

७. ईश्वरवाद का जीवन में प्रतिफलन, विश्वबन्धुत्व, मैत्री, कल्याण, अहिंसा, प्रेम, परोपकार, पुरुषार्थ का उन्नयन आदि में होना चाहिये। ईश्वर की अवधारणा में किसी भी प्रकार का संकोच आत्मघाती है, ईश्वरवाद के सर्वथा विपरीत है।

८. निरीश्वरवादी होने का अर्थ यह नहीं है कि किसी उदात्त जीवन–मूल्य में विश्वास ही न किया जाए। निरीश्वरवादी स्वच्छन्द और अधर्मी नहीं होता। हाँ, ईश्वरवादी से उसके जीवन–मूल्य भिन्न हो सकते हैं। ईश्वर के विचार से परे हटकर भी जीवन को सुखी, धार्मिक, नैतिक और सार्थक बनाया जा सकता है– यही विश्वास निरीश्वरवाद की सबसे बड़ी शक्ति है।

९. भारतीय विचारधारा में आस्था, ज्ञान और व्यवहार का पूर्ण समन्वय काश्मीर शैव दर्शन में है। अतः ईश्वरवादी के लिए यह दर्शन सर्वथा उपयुक्त है। निरीश्वरवादी होकर भी कैसे उदात्त मूल्यों पर आधारित सार्थक जीवन जिया जा सकता है इसका सफल निदर्शन बौद्ध मत नहीं, बुद्ध का जीवन और दर्शन है।

१०. ईश्वर है या नहीं इस विवाद में समय और शक्ति का अपव्यय न करते हुए मनुष्य यदि सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, विश्वबन्धुत्व, कठोर श्रम आदि उदात्त मूल्यों को सच्चे हृदय से जीवन का पाथेय बनाता है तो उसका जीवन और जीवन–दर्शन सफल व सार्थक है। इसी में ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद दोनों का सत्य, शिव और सुन्दर समन्वित है। ईश्वर, वेद, परलोक, आत्मा आदि नहीं अपितु श्रेष्ठ जीवन–मूल्यों की स्वीकृति और अनुकरण ही आस्तिकता की कसौटी है। यही सच्चा ईश्वर–प्रेम है और यही स्वस्थ निरीश्वरवाद।

शैव एवं शाक्त मत

प्राचीनता तथा व्यापकता

प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास की तीन केन्द्रीय विचारधाराएँ रही हैं– आगमिक, वैदिक एवं बौद्ध। इनमें तीसरी विचारधारा निर्विवादरूप से अर्वाचीन है किन्तु शेष दो में से कौन–सी विचारधारा अधिक प्राचीन है– यह विवाद अद्यावधि विद्यमान है। एक मत के अनुसार ये दोनों ही समकालीन रही हैं। आगमिक विचारधारा का एकमात्र देवता शिव है जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध शक्ति से है। शिव व शक्ति की प्रधानता के आधार पर ही क्रमशः शैव और शाक्त धर्म–दर्शन–सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन समस्त सम्प्रदायों की प्रतिनिधि संज्ञा शैवमत है।

सिन्धुघाटी व मोहनजोदड़ो की सभ्यता से प्राप्त जीवनोपकरणों में शैवमत के प्रभाव को सिद्ध करते हुए अनेक विद्वान् इस मत को प्रागैतिहासिक बताते हैं। वैदिक संहिताओं में स्तुत रुद्र से इसे समीकृत किया जाता है। निःसन्देह ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद और फिर यजुर्वेद में शिव का व्यक्तित्व व विवरण अधिक व्यापक है। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, त्रिपिटक, जातक आदि में शिव का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि अन्य विचारधाराओं पर भी इसका प्रभाव रहा है। उपनिषद् विशेषरूप से श्वेताश्वतर उपनिषद्– रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, पुराण आदि समस्त प्रतिष्ठित प्राचीन साहित्य में शिव के किसी न किसी पक्ष का न्यूनाधिक उद्घाटन अवश्य हुआ है। शिव पर स्वतंत्ररूप से लिखे गये पुराण, स्तोत्र, काव्य आदि की संख्या भी प्रचुर है। कालिदास, सुबन्धु, बाण, श्रीहर्ष, भट्टनारायण, भवभूति आदि अनेक प्राचीन कवियों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में शिव–वन्दना करके इसके गौरव को स्वीकार किया है। बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी अपने काव्य में शिव का सादर उल्लेख करके अपने औदार्य का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त अगणित प्राचीन ताम्रपत्रों, शिलालेखों में किया गया शिव का तथा शैव परम्परा का गौरवगान इस मत की अति प्राचीनता तथा महत्ता को उजागर करता है।

परस्पर विरोधी विचारधारा के वैदिक, बौद्ध तथा ब्राह्मण–श्रमण साहित्य में शिव के महत्त्वपूर्ण उल्लेख इसकी सर्वजन–स्वीकृति के परिचायक हैं। रामायण के दोनों विरोधी पक्ष राम एवं रावण जब शिव की आराधना में तत्पर देखे जाते हैं तब लगता है कि इस युग में शिव ने वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी जो कभी वैदिक युग में इन्द्र को सुलभ थी।

प्रचलित धर्म व पूजा–उपासना की दृष्टि से शैवमत अद्वितीय है। लिङ्ग, नटराज, अर्द्धनारीश्वर आदि के रूप में पूजित शिव–प्रतीक व प्रतिमाएँ देश के कोने–कोने में फैले

छोटे–बड़े, साधारण–असाधारण तथा प्राचीन–अर्वाचीन शिव–मन्दिर, मठ, पीठ आदि इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इसके साथ ही आज भी यह मत पूजा–उपासना के लिए अगणित अनुयायियों तथा अध्ययन–अनुसन्धान के लिए सुतीक्ष्ण विद्वानों–विद्वत्गोष्ठियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए विश्व संस्कृति का जीवन्त पक्ष बना हुआ है।

शैवागम एवं तन्त्र

प्राचीन शैव सम्प्रदायों का आधार–साहित्य तन्त्र अथवा आगम है। आगम तन्त्रों का ही एक भाग है। कभी–कभी पर्याय के रूप में भी इनका प्रयोग देखा जाता है। वैदिक धर्म–दर्शनों में जो स्थान वेद व उपनिषत्साहित्य का है, शैव धर्म–दर्शन में वही स्थान तन्त्र एवं आगमों का है। वेदों की भाँति इन्हें भी अपौरुषेय माना जाता है।

तनु धातु में ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने पर तन्त्र शब्द निष्पन्न होता है जिसका साधारण अर्थ है विस्तार करना, अर्थात् तन्त्र वह शास्त्र है जिसमें अध्यात्म विद्या का विशेष रूप से विस्तार किया गया हो। रहस्य को समझाकर प्रकट रूप से अनुभूति का विषय बना देने वाला साहित्य तन्त्र है– ऐसी व्याख्या भी मिलती है। कामिक आगम के अनुसार :

> **''तनोति विपुलान् अर्थान् तत्वमंत्रसमन्वितान्।**
> **त्राणं च कुरुते तस्मात् तंत्रमित्यभिधीयते।।''**

आगम का अर्थ :–

आङ् उपसर्गपूर्वक मन् धातु में अण् प्रत्यय लगाने से आगम शब्द व्युत्पन्न होता है। इस शब्द की अन्य व्युत्पत्ति है–

> **''आ समन्तात् आनुपूर्वेण वा यः ज्ञानं गमयति।**
> **विस्तारयति विस्तारं प्रापयति इति।।''**

अथवा

> **''आ मर्यादितम् एकरूपेण सुनिबद्ध**
> **सुचिन्तितं शास्त्रं पूर्वापररूपेण विस्तारयति,**
> **व्यवहारे प्रतिपादयति इति आगमः।''**

एक परम्परागत परिभाषाके अनुसार–

> ''आगतं शिववक्त्रेभ्यः गतं च गिरिजामुखे।
> मतं श्रीवासुदेवेन आगमस्तेन कीर्तितः।।''

अर्थात् शिव द्वारा पार्वती को उपदिष्ट एवं पार्वती से वासुदेव (विष्णु) द्वारा श्रुत एवं प्रचारित वक्तव्य आगम है।

एक अन्य व्याख्या के अनुसार आगम तन्त्र का वह भाग है जिसका शिव ने पार्वती को उपदेश दिया तथा निगम वह भाग है जो पार्वती ने शिव को कहा।

शैवाचार्य अभिनवगुप्त के मत में:–

आ समन्तात् अर्थं गमयति इति आगमः।

अर्थात् भावपदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाले शास्त्र आगम हैं।

वाचस्पति मिश्र–कृत तत्त्ववैशारदी के अनुसार जो शास्त्र भोग–मोक्ष अथवा अभ्युदय निःश्रेयस् की सभी बातों को सरलतया बुद्धिगम्य बना दे, वह आगम है।

''आगच्छति बुद्धिमारोहयति यस्मात्।
अभ्युदयनिःश्रेयसोपायः स आगमः।।''

तन्त्र एवं आगम–साहित्य अति प्राचीन, विस्तृत व विविध है। इनकी संख्या अनिश्चित है। वैदिक, पौराणिक तथा पुराणोत्तर साहित्य में ऐसे अनेकानेक तन्त्रागमों के नाम, वचन व विवरण उपलब्ध होते हैं जो सम्प्रति सुलभ नहीं हैं। कुछ तन्त्रागम स्वतंत्ररूप में आज भी उपलब्ध होते हैं।

तन्त्रों के श्रेणि–विभाजन के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। मृगेन्द्रतन्त्र, कार्मिक आगम, महाभारत, शिवपुराण आदि में इनके प्रादुर्भाव व प्रकारों की चर्चा है। किरणागम ने दस शैवागमों तथा १८ रुद्रागमों के रूप में विभाजन की दृष्टि अपनाई है। श्रीकण्ठी संहिता, शिवपुराण, निःश्वासतन्त्र संहिता, ब्रह्मयामल, वामकेश्वरीतंत्र, तोडलोत्तरतन्त्र आदि में नामों के यत्र तत्र भेद के साथ ६४ तन्त्रों की सूची है। तन्त्रों के साथ आगमों की संख्या भी कहीं १९८, कहीं ८४ तथा कहीं ६४ मानी गई है। संमोहनतंत्र में तांत्रिक–साहित्य के साथ अनेक पीठों का परिचय भी दिया गया है। तदनुसार क्षेत्र भेद से प्रचलित तंत्रों की संख्या इस प्रकार है– चीन में १०० मूल तन्त्र तथा ३७ उपतंत्र, द्रविड़ में २० मूल तंत्र व २५ उपतन्त्र, केरल में ६० तन्त्र और ५०० उपतन्त्र, कश्मीर में १०० मूल तंत्र और १६ उपतंत्र एवं गौड़प्रदेश में २७ मूल तंत्र और १६ उपतन्त्र हैं। तंत्रागमों के विभाजन की एक अन्य दृष्टि है, भेद, अभेद व भेदाभेदवाद की। इसीलिए परवर्ती सम्प्रदायों ने अपने सिद्धान्तों के अनुकूल विभिन्न शैवागमों की प्रामाणिकता को स्वीकार करके उन्हें अपने दर्शन का मुख्य आधार माना है जिसका उल्लेख शैव सम्प्रदायों के परिचय के अन्तर्गत किया जाएगा।

तन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य है अभीष्ट देवता की साधना के प्रकार। यह अभीष्ट देवता शिव, शक्ति तथा उनके विविध उपास्य रूप हैं। यही कारण है कि उपास्य–भेद से तन्त्रों का भेद भी मिलता है। देवी के प्रसंग में प्रचलित महाविद्यानुसारी विभाग के अनुसार अनेक

तंत्र काली, तारा, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, मातंगी, कमला आदि से सम्बद्ध हैं। पं० गोपीनाथ कविराज, हरिप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् तांत्रिक साहित्य से शक्ति मत का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं कि वे इस साहित्य को केवल इसी सम्प्रदाय तक सीमित बताते हैं। किन्तु अन्य विद्वान् इसे सम्प्रदाय–विशेष से सम्बद्ध नहीं मानते क्योंकि बौद्ध, वैष्णव, जैन, सौर, गाणपत आदि तन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। अत: सामान्यरूप से यही धारणा उचित प्रतीत होती है कि तांत्रिक साहित्य में साधना के ऐसे विशिष्ट प्रकारों का विवरण है जिनके द्वारा कोई भी उपासक अपने उपास्य देवता की उपासना कर सकता है। तन्त्रोक्त साधना के स्वरूप एवं वैशिष्ट्य के प्रसंग में एन.के.ब्रह्म के ये विचार उल्लेखनीय हैं कि इसमें वेदों का कर्म, उपनिषदों का ज्ञान तथा पुराणों–महाकाव्यों की भक्ति का समावेश है।

प्रस्तुत प्रसंग में कतिपय प्रमुख तंत्र एवं आगमों का नामोल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा–

कामिक, रौज, सिद्ध, वीरभद्र, वामकेश्वरीमत, मृगेन्द्रतंत्र, कुलार्णव तंत्र, प्रोद्गीत, किरणागम आदि। दस प्रसिद्ध यामल हैं– रुद्र, स्कन्द, ब्रह्मा, विष्णु, यम, वायु, कुबेर, इन्द्र, पिंगलमत तथा जयद्रथ यामल।

इसके अतिरिक्त शिव पुराण में ऐसे अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिन्होंने तन्त्रागम–परम्परा का विशेषरूप से प्रचार–प्रसार किया। इन प्रमुख आचार्यों का यहाँ उल्लेख इसलिये भी आवश्यक है कि लोक में इनका नाम भिन्न ही दर्शन–अनुशासन के सम्बन्ध में प्रचलित है– कपिल, कणाद, गौतम, सनक, सनत्कुमार, सनंद, सुदामा, आसुरी, पराशर, गर्ग, भार्गव, कश्यप, वसिष्ठ, वामदेव, च्यवन, बृहस्पति, ऋचीक, श्वेत, श्वेतशिख आदि।

शैव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव

शिव की पारमार्थिक सत्ता तथा शैवागमों की प्रामाणिकता पर आम सहमति रखते हुए भी शैवमत देश–काल क्रम से अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इसका प्रारम्भिक स्वरूप धार्मिक था किन्तु साधना–उपासना के विविध सोपान–क्रमों को पार करके इसके विविध दर्शन–सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। यही कारण है कि इन सम्प्रदायों को निश्चयपूर्वक धर्म या दर्शन की श्रेणी में विभाजित करना कठिन है अर्थात् कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भी शैव सम्प्रदाय के विषय में यह कहना संभव नहीं है कि वह विशुद्ध धार्मिक सम्प्रदाय है अथवा दार्शनिक क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय में दोनों ही प्रकार की बातें हैं। यह अवश्य हुआ है कि किसी सम्प्रदाय में धार्मिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है तो किसी में दार्शनिक

पक्ष को। वस्तुत: शैवमत ऐसा भारतीय मत है जो धर्म दर्शन के सुसामंजस्य का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय चिन्तन, जीवन तथा संस्कृति की यही विशेषता है कि इसके अन्तर्गत धर्म की व्याख्या में दर्शन स्वयं व्याख्यात हो जाता है।

शैव सम्प्रदायों की अनेकता के कारण

अति प्राचीन शैवमत के विकास का व्यवस्थित इतिहास अभी अनुसन्धान का विषय है। किन्तु प्राप्त सामग्री के आधार पर, मोटे तौर पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आरम्भ से ही इस मत की प्रकृति कुछ ऐसी रही है जिसके फलस्वरूप इसका सुव्यवस्थित विकास संभव ही न हो सका। प्रारम्भ से ही इसके अनुयायियों ने शास्त्रीय अनुशासन को बहुत अधिक स्वीकार न करते हुए अपनी स्वतंत्र प्रकृति के अनुसार शिवाराधन की प्रक्रियाएँ ढूँढ़ीं। स्वतंत्रता, स्वच्छन्दता तथा रहस्यवाद प्रारम्भ से ही इस मत की प्रकृति में समाविष्ट रहे हैं। तन्त्र अथवा रहस्य शास्त्रों पर आधारित होने के कारण भी इसके अनेक पक्ष गोपनीय अथवा सर्वजनसंवेद्य नहीं रहे। इसलिए ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के टीकाकार भास्कर को टिप्पणी करनी पड़ी– **''महारहस्येषु न सर्वेषामधिकार:।''**

शैवमत के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदायों–उपसम्प्रदायों के विकास का अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है शिव के क्रमश: विकसित होने वाले व्यक्तित्व की व्यापकता। पौराणिक काल तक आते–आते शिव के व्यक्तित्व ने इतनी विविधता धारण कर ली जितनी शायद अन्य किसी भारतीय धर्म–दर्शन मत में न थी। शिव के व्यक्तित्व के प्रचुर पक्षों ने, नाना–पूजा–विधियों, उपासना–पद्धतियों, कर्मकाण्डों, साधना–मार्गों को जन्म दिया। उत्तर–दक्षिण के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों, सामाजिक परिवेशों तथा समकालीन धार्मिक सम्पर्क–प्रभावों के फलस्वरूप इसकी पूजा–प्रक्रियाएँ सतत परिवर्तित होती रहीं। साथ ही इन विविध सम्प्रदायों में एकरूपता व सामंजस्य स्थापित करने के प्रयासों ने और अधिक सम्प्रदायों को जन्म दिया। शैवमत की लोकप्रियता एवं सर्वमान्यता ने भी इसके सम्प्रदाय–विस्तार में पर्याप्त सहयोग किया। एस. एन. दासगुप्त के मतानुसार भारतीय मतों में शैवमत की व्यापकता विलक्षण है। साथ ही अन्य किसी विचारधारा का इतना साहित्य भी बर्बाद नहीं हुआ जितना इसका। अत: इस मत की अनेक शाखाएँ होना व उनमें परस्पर साम्य–वैषम्य होना सर्वथा स्वाभाविक है।

शैव सम्प्रदायों के विकास के व्यवस्थित एवं पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। किस सम्प्रदाय की कब स्थापना हुई, कौन संस्थापक था, किन परिस्थितियों में उसका प्रादुर्भाव व विकास हुआ, प्रारम्भिक अनुयायी, समर्थक व प्रचारक कौन थे, किस आचार्य ने सम्प्रदाय–विशेष का प्रामाणिक साहित्य लिखा आदि प्रश्नों के सर्वथा प्रामाणिक उत्तर नहीं मिलते। यत्र–तत्र विकीर्ण उल्लेख ही किसी सम्प्रदाय के प्राथमिक स्वरूप को निर्धारित करने में थोड़ी बहुत

सहायता करते हैं। सभी सम्प्रदाय शैवागमों के प्रति श्रद्धावनत हैं, किन्तु इन आगमों की संख्या, लेखक, रचनाकाल तथा उपनिबद्ध सिद्धान्तों के वास्तविक अर्थ आदि के विषय में वे मतभेद रखते हैं।

एक और बात। शैवमत के अन्तर्गत धर्म–प्रधान सम्प्रदाय अधिक हैं, दर्शन–प्रधान कम। साथ ही परवर्ती होने के कारण धर्म–प्रधान सम्प्रदायों की अपेक्षा, दर्शन–प्रधान सम्प्रदायों के प्रादुर्भावकाल, आचार्य, ग्रन्थ, सिद्धान्त आदि का प्रामाणिक विवरण अधिक मिलता है।

पुराणकाल में विभिन्न सम्प्रदायों में व्यवस्था के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि पुराणों से पहले ही इन सम्प्रदायों में व्यवस्था का सूत्रपात हो चुका था। वायुपुराण व लिंगपुराण में पाशुपतों का उल्लेख मिलता है। कापालिक सम्प्रदाय भी इस काल में संगठित रूप ग्रहण कर चुका था। पुराणोत्तर काल (छठीं से तेरहवीं शती) में शैव सम्प्रदायों की संख्या–वृद्धि के साथ व्यवस्था में भी सुधार व गौरव आया। पुराण से पुराणोत्तर तक का काल इस मत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के उद्‌भव व विकास का काल है। इस अवधि में यह मत अन्य धार्मिक मतों के निकट संपर्क में विशेषरूप से आया तथा परस्पर प्रभाव के फलस्वरूप इसकी उपासना–विधियों में व्यापक परिवर्तन हुए।

छठीं–सातवीं शताब्दी का समय भारत में धर्म–सम्प्रदायों में संघर्ष का समय था। इस प्रतिद्वन्द्विता का प्रमुख केन्द्र था भारत का दक्षिणी भाग। फलस्वरूप इसी अवधि में उत्तरी एवं दक्षिणी शैवमत के विभाजन का सूत्रपात हुआ। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि दोनों की सभ्यता तथा आचार–विचार का भेद प्रारम्भ से रहा है। उत्तरी शैवमत पर वैदिक एवं ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव है तथा उसमें अधिक सहिष्णुता है जबकि दक्षिणी शैवमत का स्वरूप संघर्षात्मक रहा है तथा उसमें अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता का भाव अपेक्षया कम है।

सम्प्रदाय – विभाजन

शैव सम्प्रदायों के प्राचीन व प्रामाणिक विवरण के लिए ब्रह्मसूत्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके विभिन्न भाष्यों में भी शैव सम्प्रदायों के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार चार सम्प्रदाय हैं :– शैव, पाशुपत, कारुक (या कारुणिक सिद्धान्ती) तथा कापालिक। भास्कराचार्य अपनी टीका में कारुणिक सिद्धान्ती को काठक सिद्धान्ती कहते हैं। रामानुज–भाष्य में चार सम्प्रदायों के नाम इस रूप में दिये गये हैं– कपाल, कालामुख, पाशुपत व शैव। वामनपुराण में शैव, पाशुपत, कालमुख व कालदमन की चर्चा है। जबकि नारदीय पुराण के अनुसार ये हैं सिद्धान्तमार्गी, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कापालिक। इस विवरण से स्पष्ट है कि पाशुपत तथा शैव सम्प्रदायों के नाम सुनिश्चित हैं किन्तु शेष दो के नामों में संगति कम है।

शैव सम्प्रदायों की सूचनार्थ अन्य स्रोत हैं आनन्दगिरिकृत शंकरदिग्विजय। इसके चौथे अध्याय में शंकर से शास्त्रार्थ के प्रसंग में पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भाट या भट्ट तथा जंगम (भारशिव) सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है जिसके अनुयायी भैरवतंत्र को प्रमाण ग्रन्थ मानते थे।

आर.जी. भाण्डारकर के अनुसार पूर्वमध्यकाल में तीन मुख्य शैव सम्प्रदाय थे:–

१. सिद्धान्त शैव सम्प्रदाय

२. आगम शैव सम्प्रदाय– इसके अन्तर्गत तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं :–

(अ) तमिल अथवा दक्षिणी शैव

(ब) लिंगायत अथवा वीर शैव

(स) काश्मीरी शैव

३. पाशुपत सम्प्रदाय– इसके भी दो उपसम्प्रदाय हैं :

(अ) कापालिक

(ब) कालामुख

कान्तिचन्द्र पाण्डेय के मतानुसार शैव मत की आठ दार्शनिक शाखाएँ हैं :–

१. पाशुपत द्वैतवाद

२. सिद्वान्त शैव द्वैतवाद

३. लकुलीश पाशुपत द्वैतवाद

४. विशिष्ट द्वैत शैवमत

५. वीरशैव मत अथवा विशेषाद्वैत

६. नन्दिकेश्वर शैवमत

७. रसेश्वर शैवमत

८. अद्वैतवादी काश्मीरी शैवमत

एस.एन. दासगुप्त शैव दर्शन की कुल तीन प्रधान शाखाएँ मानते हुए स्थान की दृष्टि से उन्हें तीन प्रदेशों से सम्बद्ध मानते हैं। उनके विचार में आगम शैव तमिल प्रदेश से, पाशुपत गुजरात से तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन भारत के उत्तरी प्रदेश व काश्मीर से सम्बद्ध था।

पाशुपत अथवा लकुशील पाशुपत

यह शैवमत का प्राचीन सम्प्रदाय है। महाभारत से लेकर प्रशस्तपाद भाष्य, उद्योत टीका, सर्वदर्शनसंग्रह आदि ग्रन्थों, शिलालेखों, ह्वेनसांग द्वारा प्रदत्त विवरणों इत्यादि में इस सम्प्रदाय का निरन्तर उल्लेख सिद्ध करता है कि यह गतिमान् तथा सम्मानित मत रहा है। उक्त ग्रन्थों

व अभिलेखों की प्रामाणिक सूचना से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि न्याय–वैशेषिक दर्शनों व इनके संस्थापक आचार्यों गौतम तथा कणाद का इस दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। षड्दर्शनसमुच्चयकार हरिभद्र ने तो इन दोनों दर्शनों को शैवधर्म का प्रचारक तक कह दिया है। टीकाकार गुणरत्न ने वैशेषिक को पाशुपत व न्याय दर्शन को शैव कहा है।

महाभारत (नारायणीय पर्व व शान्ति पर्व) के विवरण के अनुसार शिव श्रीकण्ठ ने इस मत के सिद्धान्तों का प्रकाशन किया। वायु व लिंग पुराणों के मत में महेश्वर ने स्वयं ब्रह्मचारी लकुलिन् के रूप में अवतार लेकर चार शिष्यों (कुशिक, गर्ग, मित्र व कौरूप्य) के द्वारा इसे प्रचारित किया। ये चार शिष्य ही बाद में इसके चार उप सम्प्रदायों के जन्मदाता बने। इस प्रकार नकुलिन् अथाव लकुलिन् को शिव का अवतार स्वीकार करते हुए उसे कृष्ण का समकालीन माना जाता है तथा इसी आधार पर यह मान्यता प्रस्तुत की जाती है कि इस मत का प्रादुर्भाव वैष्णवों के पांचरात्र सम्प्रदाय के समानान्तर हुआ। संस्थापक के नाम पर इस मत का नाम लकुलीश पाशुपत पड़ा। कुछ ग्रन्थ एवं इतिहासकार पाशुपत एवं लकुलीश पाशुपत को दो सम्प्रदाय मानते हैं। इनके अनुसार प्रथम द्वैतवादी तथा द्वितीय द्वैताद्वैतवादी है। किन्तु यह स्थापना सुसंगत नहीं लगती। उक्त पृष्ठभूमि में इसके प्रादुर्भाव का काल ई० पूर्व दूसरी शती माना जा सकता है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग (सातवीं शती) ने अनेक शिवमंदिर में इस मत के अनुयायियों को पूजारत देखा है। तत्कालीन वाराणसी में ही उसने इस मत के दस हजार अनुयायियों का उल्लेख किया है जो महेश्वर की आराधना करते, मस्तक, नाभि, वक्ष अथवा भुजा पर शिवलिंग का चिह्न अंकित करते, भस्म रमाते तथा जटाधारी या मुण्डी बनकर नग्न रहते थे। कुछ अनुयायी लाल वस्त्र भी धारण करते थे। ऐसा अनुमान बाणभट्टकृत कादम्बरी के उल्लेख से लगाया जाता है। दक्षिण में प्राप्त शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि १२वीं शती के अन्त तक वहाँ इसका बहुत प्रचार–प्रसार था।

पाशुपत मत के सिद्धान्त १८ आगमों पर आधारित हैं जो गुप्तकाल तक सत्ता में आ गए थे। दस यामलों के योग से इनकी संख्या २८ हो गयी थी। ये २८ आगम तथा १० यामल क्रमशः इस प्रकार हैं–

विजय, निश्वास, स्वयंभुव, वातूल, वीरभद्र, रौरव, माकुटे, वीरेश, चन्द्रहास, ज्ञान, मुखबिम्ब, प्रोद्गीत, लौहित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोद्गीत, किरण, परमेश्वर, रूद्रयामल, कण्ड (स्कन्द) यामल, ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, यमयामल, वायुयामल, कुवेरयामल, इन्द्रयामल, पिंगयामल और जयद्रथयामल।

शंकराचार्य के अनुसार इस सम्प्रदाय के पाँच प्रमुख सिद्धान्त हैं। (१) कारण– वह ईश्वर जो सृष्टि–संहार तथा अनुग्रह करता है। एक होते हुए भी वह गुण–कर्म के भेद से,

अनेक हो जाता है। (२) कार्य– उक्त कारण के अधीन है। यह तीन प्रकार का है– विद्या, अविद्या और पशु। (३) योग– जिसके द्वारा ईश्वर के साथ जीव का सम्बन्ध जुड़ता है। क्रियायुक्त तथा क्रियाहीन भेद से इसके दो प्रकार हैं। (४) विधि– धर्मों को सिद्धि प्रदान करने वाला व्यापार विधि अथवा चर्या है। यह भी प्रधान तथा गौण के भेद से द्विविध मानी गयी है। (५) दुःखान्त– जिस अवस्था में दुःखों का पूर्ण क्षय हो वह अनात्मक अवस्था है तथा जिसमें ज्ञान और कर्मरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति हो वह सात्मक अवस्था मानी गयी है। इस मत के अनुसार मुक्तावस्था में साधक ईश्वर का ऐसा सामीप्य प्राप्त कर लेता है जहाँ से वह सांसारिक दुःखों की ओर कभी नहीं लौटता।

इस मत की एक उल्लेखनीय विशेषता है मोक्ष के प्रयोजन से स्वीकृत विविध विलक्षण व गोपनीय क्रियाएँ। इसके अन्तर्गत भस्म से त्रिकाल स्नान, भस्म में शयन, हसित, गीत, हुडुक्कार, नमस्कार आदि उपहारों द्वारा पूजन, क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, श्रृंगारण, अवित्करण, अविद्भाषण तथा द्वारचर्याओं का विधान है। यही कारण है कि इसे शैव मत के अतिमार्गिक सम्प्रदायों में परिगणित किया जाता है।

कापालिक और कालामुख

कापालिक और कालामुख दो भिन्न सम्प्रदाय रहे हैं किन्तु इनके सिद्धान्तों में सूक्ष्म भेद न कर पाने के कारण कतिपय उल्लेखों में इन्हें अभिन्न भी दर्शाया गया है। एक अन्य मत के अनुसार कालामुख, कापालिक का ही उपसम्प्रदाय है किन्तु इसका प्राचीन नाम कारुक सिद्धान्ती था। इसी प्रसंग में एक अन्य सम्प्रदाय का उल्लेख भी मिलता है जिसे महाव्रतधर या महाव्रातक बताया गया है। शिवपुराण में कालामुख को महाव्रातक कहा गया है और गुणरत्न के अनुसार कापालिक महाव्रतधर थे। ह्वेनसांग द्वारा प्रस्तुत विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसके समय में पाशुपत एवं कापालिक इन दो भिन्न सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो गया था।

इन दोनों सम्प्रदायों के विषय में भ्रम, अनिश्चितता तथा अस्पष्टता का मुख्य कारण यह है कि इनका कोई भी प्रामाणिक धर्मग्रन्थ अथावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। अतः सारी जानकारी चाहे वह इतिहास पक्ष की हो या सिद्धान्त और प्रभाव पक्ष की, अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित–आलोचित विवरणों पर ही आधारित होती है। इसके साथ ही एक दुर्भाग्य यह भी है कि ये सभी ग्रन्थ व इनके आचार्य वे हैं जो इन दोनों मतों से घोर विरोध रखते हैं। इन सम्प्रदायों के विषय में कुछ सूचनाएँ मन्दिरों के शिलालेखों से मिलती हैं। मैसूर राज्य के मन्दिरों में कालामुख के अभिलेख मिलते हैं जो कन्नड़ में हैं। इन्हें ग्यारह–बारहवीं शती का माना गया है तथा इनमें भी दी गयी सूचनाएँ इतिहास–पक्ष से अधिक सम्बन्ध रखती

हैं, सिद्धान्त पक्ष से कम। इस प्रकार यामुनाचार्य उनके शिष्य रामानुज, भवभूति (मालतीमाधव), कृष्णमिश्र (प्रबोध चन्द्रोदय) माधवाचार्य (शंकरदिग्विजय), आनन्दगिरि (शंकरविजय) आदि से प्राप्त समस्त प्रकीर्ण सूचनाओं से कम से कम एक निष्कर्ष तो सहज ही निकलता है और वह यह कि ये सम्प्रदाय लम्बे समय तक प्रभावशाली रहे हैं। इनमें भी कालामुख अधिक सुसंगठित सम्प्रदाय रहा है। इसके मठ व मठस्वामियों की परम्परा रही है जो अपने क्षेत्र के मन्दिरों पर नियन्त्रण रखते थे।

उपर्युक्त ग्रन्थों से प्राप्त समन्वित सूचनाओं के अनुसार कापालिक मतानुयायी छः मुद्राएँ धारण करता है– कण्ठिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत। जो साधक इन मुद्राओं के मर्म को जानने वाला तथा इनके समुचित प्रयोग में कुशल है वह भगासन पर बैठकर आत्मा का ध्यान करते हुए मुक्ति का अधिकारी होता है। कालामुखों के अनुसार कपाल में भोजन करना, शरीर पर भस्म लगाना, श्मशान की राख खाना, लठ लेकर चलना, सुरापात्र रखना तथा सुरापात्र में स्थित भैरव की पूजा करना, इह लौकिक व पारलौकिक इच्छा पूर्ति के उपाय हैं। जटाएँ, रुद्राक्ष और माला धारण किये हुए ये रक्त व नरकंकाल से शिवपूजा जैसे जघन्य कृत्यों को भी सिद्धि मानते हैं। इनका मत है कि साधारण दीक्षा–विधान से किसी भी जाति का व्यक्ति ब्राह्मण बनकर कापालिक व्रत धारण करने का अधिकारी हो सकता है। इस प्रकार इन्होंने अपने तरीके से वर्ण–भेद को समाप्त कर दिया था। स्त्रियों को भी ये अपने सम्प्रदाय में दीक्षित कर लेते थे, किन्तु उन्हें भी विशिष्ट वेशभूषा धारण करनी पड़ती थी। मालतीमाधव में कपालकुण्डला स्त्री का उल्लेख है। इन विचित्र, रहस्यमयी क्रियाओं के कारण ये सम्प्रदाय आम जनता में लोकप्रिय न हो सके तथा स्वच्छन्द आचरण के कारण लोकापवाद ग्रस्त होकर सीमित वर्ग में ही प्रचलित रहे।

शैव सिद्धान्त

अनुश्रुतियों के अनुसार शिव ने शैवागमों के प्रचारार्थ दुर्वासा को निर्देश दिया जिन्होंने अपने तीन शिष्यों त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को एतदर्थ शिक्षित किया। त्र्यम्बक की शिक्षा पर अद्वयवादी काश्मीर शैव दर्शन तथा शेष दो को दी गयी द्वैत व द्वैताद्वैतवादी शिक्षा पर शैवसिद्धान्त आधारित है। धर्म–दर्शन होने के कारण इस मत के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं। इसका प्रचार–प्रसार विशेषरूप से दक्षिण भारत में है।

भेदपरक आगमों पर मुख्यतः आधारित इस मत का अधिकांश मूल साहित्य तमिल भाषा में है तथा कुछ ग्रन्थ संस्कृत में भी हैं। यह तमिल साहित्य ग्यारह संग्रहों में उपलब्ध होता है। प्रथम तीन संग्रहों में तिरुजानसम्बन्ध द्वारा रचित स्तुतियाँ हैं। अग्रिम तीन संग्रह अप्पर–रचित हैं तथा सातवें संग्रह के लेखक सुन्दर हैं। वेद की तरह सम्मानित इन सात ग्रन्थों

को देवारम् कहा जाता है। आठवाँ संग्रह तिरुवासगम् है जिसके रचनाकार मानिक्कवासगर हैं तथा जो ग्रन्थ इस मत के अनुयायियों में उपनिषद् की तरह प्रमाणरूप में स्वीकृत है। चोलशासककृत नवम सर्ग में संस्तुतियाँ, तिरुमूलर योगीकृत दशम संग्रह में रहस्यवादी गीत और नम्बि आन्दार नीम्ब रचित ग्यारहवें संग्रह में प्रकीर्ण रचनाएँ संकलित हैं। इसी संकलन के एक भाग में पेरियपुराण सहित ये ग्यारह ग्रन्थ दक्षिणी शैवमतानुयायियों के धर्मग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त सनातन आचार्य—प्रणीत १४ अन्य रचनाएँ है जो इस मत का सिद्धान्त शास्त्र मानी जाती हैं। इन ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य है चार पाद (विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या) एवं तीन पदार्थ (पति, पशु व पाश)। विद्यापाद में पदार्थत्रय के स्वरूप की व्याख्या, मन्त्र मन्त्रेश्वरों के महत्त्व के बाद दीक्षा का निरूपण है। क्रियावाद में दीक्षा—विधियों तथा उनके अंगों का वर्णन है। योगपाद का विषय ज्ञान योग है, जो चर्यापाद में विहित अविहित कर्म का निर्देश है।

शैव सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में तीन तत्त्व (पशु, पति, पाश) तथा इन्हीं के विस्तार रूप में ३६ तत्वों को मानता है— शिव, शक्ति, सदाशिव, महेश्वर, शुद्धविद्या, कार्यमाया, काल, कला, नियति, राग, विद्या, पुरुष, प्रकृति, त्रिविध अन्तःकरण, पंचतन्मात्र, पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ। इस मत के अनुसार इस जगत् का स्वभाव है सृष्टि, स्थिति व संहार। इन कृत्यों का कर्तृत्व किसी में मानना आवश्यक है। वही ईश्वर है। इसके अतिरिक्त आत्माओं को शरीर से सम्बद्ध करने वाला, आत्माओं को उनके कर्मों का समुचित फल प्रदान करने वाला कोई तत्व मानना आवश्यक है। यही तत्व ईश्वर है। वह सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह करने वाला है। वह शब्दातीत है। उसके अनुग्रह के द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करके साधक मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शिव को निर्गुण मानने का अर्थ इस दर्शन में सत्व, रज, तम से उसे परे मानना है।

कार्यकारणवाद के प्रसंग में इसका मत सत्कार्यवाद है। यह काश्मीर शैव दर्शन की भांति सृष्टि को आभास नहीं, यथार्थ मानता है। शिव इसके प्रादुर्भाव व विलय का निमित्त कारण है। वह तत्वों में तथा इनसे परे भी विद्यमान है। निरीश्वर सांख्य से इसका मतभेद है क्योंकि इस मत में अचेतन प्रकृति स्वयं जगन्निर्माण नहीं कर सकती। इस मत में माया की नित्य सत्ता अवश्य है किन्तु वह अपनी क्रियाशीलता के लिए शिव पर आश्रित है। नित्य माया के तीन रूप हैं— शुद्ध माया, अशुद्ध माया तथा प्रकृति। शुद्ध माया से ही शब्द जगत् की सृष्टि होती है जिसके अन्तर्गत परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी का प्रादुर्भाव होता है। इस विषय का सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन इसके साहित्य में मिलता है।

जहाँ तक आत्मा, ज्ञान, बन्धन, मोक्ष आदि का प्रश्न है, संक्षेप में इसकी धारणा अन्य शैव दर्शनों से कुछ भिन्न तथा कुछ अभिन्न है। इसके अनुसार आत्मा की तीन अवस्थाएँ

हैं– शैवलावस्था, सकलावस्था तथा शुद्धावस्था। यह आत्मा अनादि काल से आणव मल से आच्छादित है। मायीय मल आत्मा की इच्छा, ज्ञान व क्रियाशक्तियों को आंशिक रूप में क्रियाशील करने का उत्तरदायी है। कर्म भी बन्धन का कारण होता है। अतः कर्म को मल मानना स्वाभाविक है किन्तु साथ ही यही मोक्ष का भी कारण है। शिव के अनुग्रह के फलस्वरूप आत्मा अपनी शुद्धावस्था प्राप्त कर सकता है किन्तु इससे पूर्व इन विविध मलों का परिपाक आवश्यक है।

मल–परिपाक की क्रिया तथा साधना में रत रहने वाले साधकों को आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु शिव ही हैं। वह किसी भी रूप में, किसी भी माध्यम से प्रकट होकर मल–प्रहाण का उपदेश देते हैं, चाहे वह मानवरूप हो अथवा अन्य रूप। गुरूपदेश से मल–प्रहाण ही दीक्षा है। इस दर्शन के आचार्यों ने दीक्षा के कई प्रकार स्वीकार करते हुए उनका विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है, जैसे कुछ प्रमुख दीक्षाएँ हैं– नयन, स्पर्श, वाचक, मानस, शास्त्र, योग आदि। दीक्षित साधक पर शिव का शक्तिपातरूप अनुग्रह ही पूर्ण मोक्ष का वास्तविक कारण है। इसी प्रसंग में यहाँ चार मोक्षोपाय भी स्वीकृत किये गए हैं। दासमार्ग, सत्पुत्र मार्ग, सह मार्ग तथा सन्मार्ग। मुक्ति के प्रसंग में ही – स्वीकृत कर्तव्य या कार्य दस हैं– तत्वरूप, तत्वदर्शन, तत्वसिद्धि, आत्मरूप, आत्मदर्शन, आत्मशुद्धि, शिवरूप, शिवदर्शन, शिवयोग तथा शिवभोग।

शैव सिद्धान्त ज्ञान के दो स्तर स्वीकारता है सामान्य ज्ञान अथवा पशुज्ञान तथा शिवज्ञान अथवा उच्चतर ज्ञान। बुद्धि, इन्द्रियादि साधनों के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान सामान्य किन्तु साथ ही सीमित होता है। दूसरा ज्ञान शैवागम सम्मत साधनाओं के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तथा जो असीमित होता है। यह ज्ञान वर्णन–विवेचन–विवाद का विषय नहीं, अनुभव का विषय है। इस मत के अनुसार इन्द्रियाँ आदि ज्ञान के साधारण साधन मात्र हैं, ज्ञान का वास्तविक कारण तो आत्मा है। आत्मा का ही आवश्यक गुण है– ज्ञान अथवा स्वरूप। स्वीकृत तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) चिति शक्ति के अधीन रहकर कार्य करते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं।

संक्षेप में, यह शैव सम्प्रदाय शुद्ध द्वैतवादी तथा शुद्ध अद्वैतवादी मतों की अतियों के मध्य का सिद्धान्त है। जगत् के प्रति इसका दृष्टिकोण भावात्मक है जिसके कारण यह प्रेम, अनुग्रह, भक्ति और भोग–मोक्ष में अविरोध की मान्यताओं को यथोचित प्रश्रय देते हुए जगत् के त्याग या संसार से संन्यास का नहीं अपितु जीवन और जगत् को समुचित रूप में ग्रहण का उपदेश देता है। इसका मार्ग निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का है, विशुद्ध ज्ञान का नहीं, प्रेम का है।

लिंगायत अथवा वीर शैव

वीरतापूर्वक शिवलिंग धारण करके अपनी स्वतन्त्र पहिचान बनाने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम वीर शैव अथवा लिंगायत प्रचलित हुआ। इस अभिधान की दार्शनिक व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गयी है–

वीरशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवाः वीरशैवास्तु ते मताः।।

वीरशब्दो वा विकल्पार्थो रशब्दो रहितार्थकः।
विकल्परहितं शैव वीरशैवं प्रचक्षते।।

इसके प्रादुर्भाव तथा संस्थापक के प्रश्न विवादास्पद हैं। एक मान्यता के अनुसार इसकी स्थापना ब्राह्मण मादिराज के पुत्र बास या बसव द्वारा की गयी। दूसरी मान्यता के अनुसार एकान्त या एकान्तद राम्य्या इसके संस्थापक थे। किन्तु तीसरी मान्यता के अनुसार ये दोनों संस्थापक न होकर समर्थ प्रचारक थे क्योंकि इनसे पूर्व भी इस मत के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। इसके उपसम्प्रदाय के रूप में "आराध्य" मत का भी उल्लेख मिलता है। ऐसा अनुमान है कि लिंगायतों तथा आराध्यों में परस्पर गहरे मतभेद थे क्योंकि प्रथममत का स्वरूप ब्राह्मणवाद–विरोधी था जबकि द्वितीय ने ब्राह्मणवाद के कतिपय विधानों जैसे गायत्रीमन्त्र, यज्ञोपवीत संस्कार आदि को, उसके प्रभाववश, कुछ संशोधन के साथ स्वीकार कर लिया था। लिंगायतों के विषय में इस धारणा को भ्रामक बताया गया है कि इसके सभी अनुयायी शूद्र जाति के होते थे। वस्तुतः इसके अनुयायियों में तीनों उच्च वर्णों का मिश्रण होता था। इनके चार प्रकार भी प्रचलित थे– जंगम, शीलवन्त, वणिक् तथा पंचमशाली।

सिद्धान्तशिखामणि तथा वसवपुराण इस मत के उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इसकी सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार संक्षेपतः पारमार्थिक तत्व शिव है जिसका पारिभाषिक नाम स्थल है। अद्वैत स्थल अपनी शक्ति में क्षोभ के कारण दो में विभक्त हो जाता है– लिंगस्थल तथा अंगस्थल। प्रथम स्थल शिव या रुद्र है जिसका स्वरूप उपासनीय है तथा द्वितीय स्थल जीवात्मा है जिसका स्वरूप पूजक अथवा उपासक का है। इसी प्रकार शक्ति के दो भागों में शिव पर आश्रित प्रथम भाग कला तथा जीवात्मा पर आश्रित दूसरा भाग भक्ति कहलाता है। शक्ति, लिंग या शिव में स्थित है तथा भक्ति अंग जीवात्मा में। भक्ति के द्वारा ही जीवात्मा का शिव से संयोग होता है।

लिंग को साक्षात् शिव मानते हुए इसके तीन भेद किये गए हैं। भाव लिंग, प्राण लिंग तथा इष्ट लिंग। लिंग–भक्ति, उसकी विभिन्न अवस्थाओं, दीक्षा आदि का सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन इसके साहित्य में मिलता है।

इस मत की कतिपय ऐसी विशेषताएँ भी उल्लेखनीय हैं जिनके कारण यह मत शैव मत का विशिष्ट तथा सम्मानित सम्प्रदाय बना। इस मत में धर्म के द्वारा सामाजिक बुराइयों को दूर करने का विशेष प्रयास किया गया जैसे वर्ण–व्यवस्था को ठुकराना, मांस मदिरा का निषेध, विधवा–विवाह, स्त्रियों को ऋतुकाल में अस्पृश्य न मानना, यज्ञोपवीत से मिलते–जुलते दीक्षा संस्कार का विधान पुरुष–स्त्री दोनों के लिए रखना, मन्दिर–गमन की अनिवार्यता समाप्त करना इत्यादि व्यवस्थाएँ इसके प्रगतिशील विचारों की परिचायक हैं।

काश्मीरी शैव मत

काश्मीर आरम्भ से ही समन्वय–प्रधान संस्कृति का केन्द्र रहा है। केसर व कविता के लिए प्रसिद्ध इस प्रदेश में अनेक धर्मों का एक साथ प्रचार–प्रसार रहा है। यहाँ प्रचलित शैवमत की विशेषता है अर्धनारीनटेश्वर की पूजा की प्राचीन परम्परा। बहुधर्मवाद की पृष्ठभूमि में लगभग सातवीं–आठवीं शताब्दी में बहु प्रचलित शैव धर्म ने यहाँ दार्शनिक स्वरूप ग्रहण किया।

काश्मीर शैव दर्शन का यह नाम अर्वाचीन है। जे.सी. चटर्जी द्वारा प्रयुक्त है। किन्तु शैवाचार्यों के ग्रन्थों में इसके अन्य नाम व्यवहृत हैं जैसे– शैव, ईश्वराद्वयवाद, त्रिकदर्शन, षडर्धशास्त्र, षडर्धक्रमविज्ञान, स्वातन्त्र्यवाद, शिवाद्वयवाद, स्पन्दशास्त्र, रहस्यसम्प्रदाय आदि। सम्प्रति इस दर्शन के अन्तर्गत तीन शाखाएँ मान्य हैं– क्रम, कुल व प्रत्यभिज्ञा, जिनमें क्रम शाखा सर्वाधिक प्राचीन है। इनमें से प्रत्येक शाखा का अपना इतिहास गुरुपरम्परा, ग्रन्थों, आचार्यों की विभिन्न सरणि है। मोक्ष के स्वरूप एवं उपायों पर इनमें सूक्ष्म मतभेद हैं। अभिनवगुप्त इस दर्शन के ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में तीनों ही शाखाओं के मतों का समन्वित व्याख्यान कर इनकी एकरूपता को सुदृढ़ किया है।

क्रम दर्शन

काश्मीर में प्रादुर्भूत तथा विकसित शैव सम्प्रदायों में क्रमदर्शन सर्वाधिक प्राचीन है। सातवीं शती का अन्तिम तथा आठवीं शती का प्रारम्भिक समय इस मत का प्रादुर्भाव काल माना गया है। क्रम शब्द के भिन्न–भिन्न अर्थ किये गए हैं। इस मत के अनुसार विकल्प–संस्कार ही परमतत्व के साक्षात्कार का उपाय है और यह संस्कार क्रमपूर्वक होता है। यही इस दर्शन के नाम की सार्थकता है। इस दर्शन के अन्य विविध नाम हैं– क्रमनय, महार्थनय, महानय, महासार, अतिनय, देवतानय अथवा देवीनय, कालीनय आदि। जयरथ के मतानुसार इस मत के प्रथम आचार्य शिवानन्द थे जिन्होंने तीन संन्यासिनियों (कैयूरवती, मदनिका व कल्याणिका) को इस मत का उपदेश दिया। पुनः इनसे उपदेश ग्रहण करने वालों में तीन ज्ञात आचार्य हैं– गोविन्दराज, भानुक और एरक।

क्रमदर्शन का अधिकांश प्राचीन साहित्य अनुपलब्ध है जिसकी सूचना परवर्ती ग्रन्थों में उद्धरण के रूप में प्राप्त होती है। संक्षेप में, इस मत का प्राप्त–अप्राप्त साहित्य है– क्रमसद्भाव, क्रमसूत्र, क्रमसिद्धि, क्रमोदय, पंचशतिक, क्रमस्तोत्र, महानयप्रकाश, क्रमकेलि, क्रमवासना, ऋजुविमर्शिनी, महार्थमंजरी आदि।

इस दर्शन–सम्प्रदाय का विकास दो समानान्तर परम्पराओं में हुआ। एक के मतानुसार शिव परमतत्व है तथा व्योम वागेश्वरी आदि उसी के आभास हैं जबकि अन्य के मतानुसार काली अथवा कालसंकर्षिणी पारमार्थिक सत्ता है। इसी के वर्णन–क्रम में द्वादश कालियों की मान्यता इस मत का वैशिष्ट्य है जिनके नाम अभिनवगुप्त के अनुसार ये हैं– सृष्टिकाली, रक्तकाली, स्थितिनाशकाली, यमकाली, संहारकाली, मृत्युकाली, रुद्रकाली अथवा भद्रकाली, मार्तण्डकाली, परमार्थकाली, कालानल रुद्रकाली, महाकालकाली और महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली।

रहस्यसम्प्रदाय होने के कारण इस दर्शन की विशेषता है कि इसके आचार्य स्नान, पूजा, जप आदि सभी की रहस्यवादी व्याख्या करते हैं। मोक्षोपाय अथवा चर्या के रूप में इसके अनुयायियों को मकारत्रय के सेवन का निर्देश है। किन्तु इनकी व्याख्याएँ विलक्षण हैं– जैसे मद्य का अर्थ गुडनिष्पन्न मादक पदार्थ नहीं, कुण्डलिनीजनित आनन्द है, मांस का अर्थ प्राणिविशेष के शरीरका मांस नहीं, अज्ञान–समुद्भूत मल है तथा मैथुन का अर्थ साधारण सुरत–व्यापार नहीं अपितु सहस्रार व बिन्दु का मिलन है। कुछ आचार्य इनमें मत्स्य, मुद्रा को अधिक जोड़ते हुए इनकी सँख्या पाँच मानते हैं जबकि कुछ के अनुसार ये दो कौल मतानुकूल हैं, क्रम मतानुकूल नहीं। तद्नुसार ईड़ा व पिंगला नाड़ियों के द्वारा श्वास का गमनागमन, मत्स्य या मीन है। साधक प्राणायाम द्वारा इस पर अधिकार करता है। मुद्रा का अर्थ प्रसन्नता अथवा आह्लाद देने वाली स्थिति, क्रिया या अवस्था है।

क्रमदर्शनान्तर्गत पाँच पदवी (व्योमचरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी, भूचरी) पाँच शक्तियाँ (सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्य, भासारूपा) पाँच अन्य शक्तियाँ (चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान क्रिया) तथा पाँच वाणियाँ (परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) स्वीकार की गयी हैं जिनका सूक्ष्म तथा विस्तृत विवेचन इस दर्शन के ग्रन्थों का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है।

यह दर्शन सभी प्रमाताओं की मुक्ति के उपाय के रूप में एक ही मार्ग स्वीकार नहीं करता अपितु मानता है कि प्रत्येक प्रमाता की क्षमता तथा स्तर में भेद है, अतः उपायों में भी भेद आवश्यक है। मान्य अनेक उपायों में कुछ हैं– इन्द्रियों के वास्तविक स्वरूप व स्वभाव को समझने का अभ्यास, पदार्थ का यथार्थ ज्ञान, शक्ति चक्र या सम्यक् ज्ञान, स्नान पूजा आदि लौकिक क्रियाओं का रहस्यात्मक यथार्थ ज्ञान आदि।

कुल दर्शन

कुल सम्प्रदाय का सम्बन्ध सत्ययुग से स्थापित किया जाता है तथा कुल योग के अवसर पर सिद्धों की पारिवारिक परम्परा के स्तवन का भी विधान है। मान्यता है कि सत्ययुग में खगेन्द्र, त्रेता में कूर्म, द्वापर में मेष तथा कलियुग में मत्स्येन्द्र इसके उपदेशक रहे हैं। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार कामरूप (असम) में पाँचवी शती में इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ से यह दक्षिण में फैला। काश्मीर में इसके अस्तित्व तथा विस्तार के प्रमाण नवीं से तेरहवीं शती तक के मिलते हैं। कौल मत का ही एक भाग वामकेश्वरी मत है। इससे सम्बद्ध वामकेश्वरी तन्त्र पर टीका लिखकर, काश्मीर में इसका सर्वप्रथम प्रचार ईश्वर शिव ने किया। इसके बाद विश्वावर्त, दीपिकानाथ, कल्याणवर्मन, अल्लट, कल्लट, शम्भुनाथ, अभिनवगुप्त आदि इसके प्रतिष्ठित दार्शनिक हुए। अभिनवगुप्त ने इस दर्शन के अनेक प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है जैसे कालीकुल, सिद्धयोगीश्वरीमत, मालिनीविजयोत्तर, रत्नमाला, वीरावली, खेचरीमत, सिद्धातन्त्र, उत्फुल्लकमत, तन्त्रराज, ब्रह्मयामल, देव्यामल, कुलक्रमोदय, त्रिशिरोभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र। उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में कुलार्णव को सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

इस मत का प्रचार काशी में भी विशेषत: हुआ। ललितसहस्रनाम पर टीका लिखने वाले भास्कराचार्य (१८वीं शती) के अलावा इस सम्प्रदायको यहाँ विकसित करने वालों में गम्भीरराम, सुकानन्द, देशिकानन्द, यज्ञेशानन्द, धर्मानन्द, धीरानन्द, भूमानन्द, भीमानन्द आदि के नाम प्रमुख हैं।

शैवाचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार क्रम तथा कुलदर्शन सहोदर हैं। एक मान्यता के अनुसार त्र्यम्बक की पुत्री के वंश में इसका प्रादुर्भाव हुआ अत: इसे अर्द्ध त्र्यम्बक तथा शिव के ऊर्ध्व मुख से उपदिष्ट होने के कारण ऊर्ध्वाम्नाय कहा जाता है। कुल शब्द के शास्त्रकारों ने अनेक अर्थ किये हैं। कुल अर्थात् वह उच्चतम तत्व जिसकी सत्ता शिव शक्ति से भी परे है। जो स्वयं पूर्ण स्वतन्त्र है तथा सर्वप्रथम शिव व शक्ति के रूप में आभासित होता है। इस शब्द के अन्य अर्थों में कार्य–कारण भाव, परमेश शक्ति अथवा शिवा शक्ति भी किया गया है। शिव अकुल हैं–

कुल: शक्ति: समाख्याता अकुल: शिव उच्यते।
तस्यां लीनो भवेद् यस्तु स कुलीन: प्रकीर्तित:।।

अथवा

अकुल: शिव इत्युक्त: कुल: शक्ति: प्रकीर्तिता।
कुलाकुलानुसंधानात् निपुणा: कौलिका प्रिये।।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार–

कुः पृथ्वीतत्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्।

इस परिभाषा की सार्थकता यह है कि जिस कुण्डलिनी के जागरण से शिव–शक्ति का समागम होता है वह कुण्डलिनी आधार चक्र में निवास करती है।

कुल मत के अनुयायी कुलीन अथवा कौल कहलाते हैं। इन्हें कुलाचार या समयाचार का अनुसरण करने पर सप्तविध उल्लासों की प्राप्ति होती है जो मुक्ति के साधन भी कहे जा सकते हैं। ये उल्लास हैं– आरम्भोल्लास, तरणोल्लास, यौवनोल्लास, प्रौढोल्लास, प्रौढान्तोल्लास, उन्मनोल्लास तथा मनोल्लास। कौलों के कई प्रकारों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है जैसे– महाकौल, सिद्ध, ज्ञाननिष्णात, सिद्धामृत, योगिनीकौल आदि। इसमें दो प्रकार के आचार–रहस्याचार तथा बाह्याचार (जैसे लिंग–पूजा, जटाधारण आदि) – की व्यवस्था है। त्रिविध अथवा पंचमकारों के सेवन का अनुशासन भी किया गया है किन्तु इनका अर्थ लोक से भिन्न है तथा इनके विधान का प्रयोजन है इन्द्रिय संयम की परीक्षा। यह दर्शन शांभवोपाय को अधिक महत्त्व देता है। मोक्ष–प्रसंग में यही इसका प्रत्यभिज्ञादर्शन से भेद है।

इस मत की सबसे बड़ी विशेषता है दर्शन तथा धर्म में भेद न करना। केवल बाह्य धर्माचरण अथवा केवल शास्त्र किंवा तत्वज्ञान से आनन्द या पूर्णता की अनुभूति में इस मत का विश्वास नहीं है। इसी मान्यता के प्रभाववश यह भोग तथा मोक्ष में सामरस्य के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वर्णाश्रम की व्यवस्था का तिरस्कार करते हुए मोक्ष के प्रसंग में उच्च वर्ण में जन्म की शर्त को यह अनिवार्य नही मानता है। इसे दूसरी उल्लेखनीय विशेषता कहा जा सकता है। गीता के फलनिरपेक्ष कर्मवाद में इसके आचार्यों ने पूर्ण आस्था व्यक्त की है। ऐसी ही कतिपय विशेषताओं के फलस्वरूप इस मत को श्रेष्ठ मत का स्थान प्राप्त था।

वेदादिभ्यः परं शैवं, शैवाद् वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं, कौलात् परतरं न हि।।

अतएव कुलार्णवतन्त्र का यह मत उचित ही है कि कौल मत का अनुयायी बनना तलवार की धार पर चलना तथा शेर के कान पकड़ने से भी कठिन है। किन्तु परवर्ती काल में इस सशक्त मत में बुराइयाँ पैदा हो गयीं। इसके अप्रामाणिक प्रचारकों ने मांसादि के सेवन के लौकिक अर्थ पर बल देते हुए मोक्ष के लिए इन्हें आवश्यक घोषित करके इसके विकास के द्वार बन्द कर दिये।

प्रत्यभिज्ञादर्शन

माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विवरण दिया है। उन्होंने इसके प्रमुख साहित्य में पाँच ग्रन्थों को स्वीकार करते हुए लिखा है–

सूत्रं वृत्तिर्विवृत्तिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः।।

सिद्धा, नामक एवं मालिनी तन्त्र पर आधारित इस मत के संस्थापक आचार्य सोमानन्द (नवीं, शताब्दी का प्रारम्भ) ने अपनी रचना शिवदृष्टि में तर्कपूर्वक इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त एवं बौद्ध मतों की समालोचना के साथ किया गया यह स्वमत–स्थापन प्रत्यभिज्ञादर्शन के विकास का सशक्त आधार बना। सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य ने इसके सूक्ष्म सिद्धान्तों को नई व्यवस्था का विस्तार दिया। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, टीका, सिद्धित्रयी (अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि व सम्बन्धसिद्धि) तथा शिवस्तोत्रावली जैसी उनकी प्रशस्त रचनाओं ने इस दर्शन के सिद्धान्तों का प्रामाणिक विस्तार किया। इसके बाद अभिनवगुप्त (दसवीं शती) के रूप में धुरन्धर दार्शनिक पाकर तो इस दर्शन ने दर्शनेतिहास में अपना मूर्धन्य स्थान सुरक्षित कर लिया। वेदान्त के विकास में जो स्थान शंकराचार्य का है वही स्थान शैव दर्शन के विकास में अभिनवगुप्त का है। वैसे तो साहित्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, स्तोत्र आदि पर इनके ४४ ग्रन्थों की गणना की गयी है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इनके उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं– परमार्थसार, तन्त्रसार, तन्त्रालोक, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, मालिनीविजयवार्तिक, परात्रीशिकाविवृति, भगवत्गीतार्थसंग्रह आदि। १२ खण्डों में प्रकाशित विशालकाय ग्रन्थ तन्त्रालोक पर जयरथ की विवेक टीका, विमर्शिनी पर भास्कर की भास्करी तथा परमार्थसार पर योगराज की टीका के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, शिवसूत्रविमर्शिनी आदि क्षेमेन्द्र की १७ रचनाएँ भी इस दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। यह समस्त साहित्य ८वीं से १३वीं शती तक ४०० वर्षों में रचा गया। यही इस दर्शन के प्रादुर्भाव तथा विकास का काल है।

पूर्णतावादी प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसार पारमार्थिक सत्ता ऐसा पूर्ण तत्व है जिसके लिये कोई भी लौकिक अभिधान सम्भव व समुचित नहीं क्योंकि वह अनुत्तर तत्व शब्दों के परिच्छिन्न अर्थ से परे है। तथापि लोकव्यवहार की दृष्टि से उसे अनुत्तर, महाशिव, शिव आदि नामों से अभिहित किया जाता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान व क्रिया रूप शक्तिपंचक के ऐश्वर्य से नित्य सम्पन्न होने के कारण वह महेश्वर है। शिव–शक्ति अथवा प्रकाश–विमर्श अविच्छिन्न हैं। प्रकाश विश्वमय परमेश्वर के उस स्वरूप को प्रकट करता है जो समस्त विश्वाभासों के लिए आधार का काम करता है। इच्छादि शक्तियाँ विमर्श के ही विविध रूप हैं। विश्व विमर्श का ही विस्फार है। यह पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति है जो सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप होती है। चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, स्पन्द इसी के पर्याय हैं। इसी निति के कारण परम शिव अपने आप को अपनी इच्छा

से अपने ही स्वरूप के अन्तर्गत, किन्तु भिन्न रूप में आभासित करता है। सदा पंचकृत्यकारी महाशिव से आभासवाद के अनुसार, दर्पण नगरन्याय से, ३६ तत्वों वाले जगत् का बहिराभासन होता है जो वस्तुतः सत्य शिव का सत्य आभास होने के कारण सत्य है– शांकर वेदान्त की भांति मिथ्या नहीं।

इस दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञान अथवा मल है– अज्ञानं किल बन्ध हेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्कृतम् (तन्त्रसार)। किन्तु यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं अपितु ज्ञान की अपूर्णता माना गया है। इसके दार्शनिक गीता (२.१६) की मान्यता से पूर्ण सहमत हैं कि भाव का अभाव नहीं हो सकता एवं अभाव को भावरूप में नहीं लाया जा सकता। इस अज्ञानरूप बन्ध के कारण ही जीवात्मा शरीर भुवनादि के संकुचित आकारों के रूप में अपनी अनुभूति करता है। शरीरोपाधि धारण करना ही उसका मूल है। मल परिमित प्रमाता के तात्विक स्वरूप के विधायक हैं जो तीन प्रकार के माने गए हैं– आणव मल मायीय मल एवं कार्म मल। आणव मल वह अन्तरंग आवरण है जो प्रमाता को तात्विक स्वरूप के बोध से शून्य बनाता है। चित् के ज्ञातृ एवं कर्तृ स्वरूप को संकुचित करने वाला यह मल भी दो प्रकार का है। इस आणव मल से संकुचित हुआ प्रमाता मायीय मल से आवृत्त होकर प्राण, बुद्धि आदि रूपों में अपना अहंता का अभिमान दृढ़ कर लेता है जिसके द्वारा अपने से अभिन्न चिन्मय पदार्थों को भी सर्वथा भिन्न अर्थात् अचिन्मय समझने लगता है। यही भेद–बुद्धि इस मल का वैशिष्ट्य है। इसी के फलस्वरूप संकुचित प्रमाता कतिपय प्रमेयों में शुभता का और कतिपय में अशुभता का आरोप करने लगता है। यही कार्म मल है। जन्म भोग का साक्षात् कारण होने से बन्ध के प्रसंग में इसका विशेष महत्त्व है। स्वरूप–गोपन की इस प्रक्रिया में स्वातन्त्र्य स्वभाव को संकुचित करने वाले षट्कंचुक भी माने गये हैं– माया, कला, विद्या, राग, काल व नियति। इन्हीं मल कंचुकों से घिरा मितात्मा पशु कहलाता है। काश्मीरी शैवाचार्यों के अनुसार पूर्णता का प्रत्यभिज्ञान अथवा शिव से ऐक्यानुभूति ही मोक्ष है। यह नूतन उपलब्धि नहीं, ज्ञात का ही ज्ञान है। पूर्ण स्वातन्त्र्य की अनुभूति वाली यह तुर्यातीत अवस्था है। जीवन्मुक्ति की मान्यता इस दर्शन के सर्वथा अनुकूल है।

इस दर्शन–सम्प्रदाय के साहित्य में मोक्ष के उपायों पर मुख्यतः तीन दृष्टियों से विचार किया गया है। प्रथम दृष्टि के अनुसार ये हैं–शात्र, गुरु तथा स्व। द्वितीय दृष्टि के अनुसार शक्तिपात व दीक्षा तथा तृतीय दृष्टि के अनुसार आणवोपाय अथवा क्रियोपाय, शाक्तोपाय अथवा ज्ञानोपाय, शाम्भवोपाय अथवा इच्छोपाय तथा अनुपाय अथवा आनन्दोपाय हैं। प्रत्यभिज्ञा शाखा अनुपाय को विशेष महत्त्व प्रदान करती है।

अन्य सम्प्रदाय

इन प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय हैं– नन्दिकेश्वर, शिवाद्वैतवाद, शैव विशिष्टाद्वैतवाद और रसेश्वर शैव दर्शन। इनकी मान्यताएँ अन्यान्य शैव मतों के समान ही हैं किन्तु पक्ष–विशेष को अधिक महत्त्व देना ही इनकी साम्प्रदायिक भिन्नता का कारण व प्रयोजन है।

नन्दिकेश्वर मत के संस्थापक नन्दिकेश्वराचार्य (चतुर्थ शताब्दी) माने जाते हैं। इसके सिद्धान्त काश्मीरी शैव मत के समान हैं किन्तु यह वैखरी आदि वाक्‌चतुष्टय पर विशेष बल देता है। शैव विशिष्टाद्वैत की मान्यता के अनुसार शिव, शक्ति तथा बिन्दु तीन रत्न हैं। बिन्दु शब्दब्रह्म है तथा शक्ति कुण्डलिनी। रसेश्वर सम्प्रदाय भौतिक समृद्धि तथा शरीर के स्वास्थ्य को अधिक महत्त्व देता है क्योंकि स्वस्थ शरीर के बिना जप आदि मोक्षोपाय सम्भव नहीं हैं। इसके मत में रोग ही बन्धन है, पाप है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए इसमें पारद या रसेश्वर का सेवन आवश्यक बताया गया है। पारद का अर्थ है ''संसारस्य परंपारं धत्ते स पारदः।'' पारद शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रज। इसकी भस्म का सेवन ही स्वस्थ तथा दिव्य शरीर का कारण तथा तद्द्वारा मोक्ष का उपाय है।

शाक्त मत

शाक्त मत प्राचीन, व्यापक तथा वैविध्यपूर्ण है। यदि मात्र स्त्री तत्व को इस मत का आधार मानते हुए इसके प्रादुर्भाव पर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता काल में इस मत के बीज रहे हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में सरस्वती, उषा आदि की स्तुतियों को स्त्री तत्व की प्रधानता की धारणा के रूप में देखा जाए तो शाक्त मत के बीज वहाँ भी माने जा सकते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ग्रन्थों में भी गायत्री, सावित्री, माया, परा आदि को तथा बिन्दु, बीज, नाद जैसे इस मत के पारिभाषिक शब्दों को भी शाक्त मत का मूल सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु ये सब इस मत के, बीज रूप में अस्तित्व के भी, सर्वसम्मत प्रामाणिक आधार नहीं हैं क्योंकि शक्तिवाद को स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में स्थापित करने की मुख्य कसौटी है– पुरुष या शिवतत्व की तुलना में स्त्री या शक्तितत्व को प्रधानता देना तथा इस मान्यता की व्यवस्थित परम्परा का होना किन्तु उक्त साहित्य में वैसे उल्लेख नहीं मिलते।

महाभारत में वर्णन है कि कृष्ण के परामर्श से अर्जुन ने दुर्गा की स्तुति की। यह प्रसंग सिद्ध करता है कि दुर्गा उस समय तक स्वतन्त्र देवी के रूप में मान्य हो चुकी थी। इस स्तुति में दुर्गा के अनेक नामों का उल्लेख है जैसे– कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, करमाला, दिव्या, कौशिकी, उमा, कान्तारवासिनी आदि। मार्कण्डेयपुराण के अनुसार देवी महिषासुर मर्दिनी शिव, विष्णु आदि विभिन्न देवों के तेज से बनी है जिसके तीन रूप हैं– सौम्यरूप जिसकी साधारणतया सर्वत्र पूजा होती है। प्रचण्डरूप जिसका सम्बन्ध कालामुखों

व कापालिकों से विशेष रूप से है तथा जिसे पशु बलि व नर बलि दी जाती थी। तीसरा कामप्रधानरूप है जिसकी विशेष रूप से शाक्य मतानुयायी पूजा करते हैं। इस पौराणिक देवी का मुख्य कार्य था असुरों का वध करके अपने भक्तों की सुरक्षा व कल्याण करना।

पुराणोत्तर काल में शाक्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेक उप–सम्प्रदायों का विकास हुआ। जो साधक देवी को विष्णु की शक्ति मानते थे वे उसे महालक्ष्मी या महावैष्णवी कहने लगे। जो वाक्शक्ति को मानते थे वे वागोपासक बने तथा शिव की शक्ति के रूप में पूजा करने वाले शाक्य कहलाए। इसी के पुन: वाम तथा दक्षिण मार्गी सम्प्रदाय हो गए जो क्रमशः कामरूप व बंगाल से सम्बन्धित रहे हैं। कुलार्णवतन्त्र में शाक्त सम्मत साधनाओं को गुप्त करने के निर्देश किये गए हैं जबकि महार्णव–तन्त्र में इन्हें प्रकट–रूप में करने का विधान स्वीकार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यही मतभेद वाम एवं दक्षिण मार्ग के भेद का द्वार रहा है।

शाक्त मत का साहित्य विशाल है। अधोलिखित चौदह उपनिषदों में इस मत की विस्तृत व्याख्याएँ मिलती हैं जिनमें शक्ति के विविध स्वरूपों का उद्घाटन किया गया है– त्रिपुरोपनिषद्, त्रिपुरातापिन्युपनिषद्, देव्युपनिषद, भावनोपनिषद्, सरस्वतीरहस्योपनिषद्, शीतोपनिषद्, बह्वृचोपनिषद्, सौभाग्यलक्ष्मीउपनिषद्, कालीउपनिषद्, ताराउपनिषद्, अद्वैतभावोपनिषद्, कालउपनिषद्, श्रीविद्यातारकउपनिषद् तथा अरुणा उपनिषद्। इनमें से अन्तिम छ: उपनिषद् वाम मार्ग के प्रादुर्भाव के बाद रचे गए प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त शक्ति सम्बन्धी सूत्र तथा स्तोत्र साहित्य भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। जिनमें कुछ प्रमुख हैं– अगस्त्य कृत शक्ति सूत्र तथा शक्तिमहिम्न:स्तोत्र, दुर्वासा का ललितास्तवनरत्न व पराशम्भुस्तोत्र, क्षेमराजकृत शक्तिसूत्र, गौडपादकृत श्रीविद्यारत्नसूत्र, शंकररचित सौन्दर्यलहरी आदि। पुराणों में काली पुराण इस मत का स्वतन्त्र पुराण है। मार्कण्डेय पुराण की सप्तशती, देवी भागवत का देवी गीता प्रकरण व उस पर नीलकण्ठ की टीका आदि भी इस मत का महत्त्वपूर्ण साहित्य है। शाक्त सम्प्रदाय में ६४ तन्त्रों को भी आधार ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी सूची वामकेश्वरी तन्त्र में मिलती है। समयी सम्प्रदाय ५ संहिताओं को शुद्ध तन्त्र मानता है। ये हैं– वशिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन एवं सनत्कुमार कृत इन्हीं के नाम से प्रख्यात संहिताएँ। इनके अतिरिक्त शंकर–रचित प्रपंचसार तन्त्र, लक्ष्मणदेशिक–रचित शारदातिलक, अभिनवगुप्त–कृत तन्त्रालोक, तंत्रराज, विज्ञानभैरव, मालिनीविजय आदि भी शाक्त–साहित्य की अमूल्य निधि है।

सम्मोहन तन्त्र की सूचना से ज्ञात होता है कि यह सम्प्रदाय नौ आम्नाय तथा चार सम्प्रदायों– केरल, काश्मीर, गौड़ व विलास– में विभक्त था। बाद में इन्हीं के अन्य उपसम्प्रदाय बने। आचार–विचार की दृष्टि से इनके अनुयायी तीन प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त थे– कौलमार्गी, मिश्र तथा समयी।

शाक्त विधि–विधानों का दार्शनिक आधार शाम्भव दर्शन में है। तदनुसार शिवशक्ति ही आद्य तत्त्व है। शिव, शक्ति में प्रविष्ट होकर बिन्दु का रूप धारण कर लेते हैं। बिन्दु ही

संवर्द्धित होकर नाद बनता है तथा बिन्दु–नाद के संयोग से मिश्र बिन्दु। जबकि कामप्रधान शाक्त–सम्प्रदाय के अनुसार आनन्द भैरवी की आत्मा आनन्द भैरव है जो नौ व्यूहों से निर्मित है। महाभैरव तथा देवी के सामरस्य से सृष्टि होती है। सृष्टि के प्रसंग में देवी की प्रधानता है तथा संहार के प्रसंग में महाभैरव की।

आधारग्रन्थ-

१. अग्रवाल, बीना : तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, १९९६.

२. कमलेश, सुशीला, ब्रह्मसूत्रों पर प्रणीत शक्तिभाष्य का अध्ययन, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९७२.

३. कविराज, गोपीनाथ, तांत्रिक साहित्य, हिन्दी समिति लखनऊ, १९७२.

४. गुप्त दाऊदयाल, शिवमहिमा, द्वितीय संस्करण, पुस्तकमहल, दिल्ली, १९८१.

५. द्विवेदी, रामचन्द्र : काश्मीर की शैव परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९९०.

६. द्विवेदी, रामचन्द्र : त्रिकदर्शनम् : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९२.

७. भारतीय जितेन्द्र चन्द्र, शिव पुराण में शैव दर्शन तत्व, निर्मोही बन्धु प्रकाशन, महानगर, लखनऊ, १९७२

८. भांडारकर, रामकृष्ण गोपाल, वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक मत (अनुवाद), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७.

९. मिश्र, कैलाशपति, शैव सिद्धान्त दर्शन, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२

१०. यदुवंशी, शैवमत बिहारराष्ट्र परिषद्, पटना, १९५५.

११. व्यास, सूर्यप्रकाश : बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, १९८६.

१२. व्यास सूर्यप्रकाश : सिद्धित्रयी, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९८९.

13. Ayyar, C.V. Narayan : Origin and Early History of Shavism in South India, Madras University, 1974.

14. Jash, Pranabanand : History of Shavism, Rai Chaudhari, Calcutta, 1974.

15. Pandey, Kanti Chandr : Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study, Chaukhambha, 1963.

16. Pandey Kanti Chandr : Bhaskari Part III, Saraswati Bhavan, Lucknow, 1954.

17. Rastogi, Navajeevan : Kram Tantricism of Kashmir, Motilal Banarasidass, Delhi, 1979.

18. Lorenzen, David N. : Kapalikas and Kalamukhas, Thomson Press, New Delhi, 1972.

19. Woodrough Sir, John : Shakti and Shakta, Ganesh and Company, Madras, 1969.

20. Shivaraman : Shavism in Philosophical Perspective, Motilal Banarasidass, Delhi, 1973.

काश्मीर में शैव दर्शन का प्रादुर्भाव

जिस प्रकार शैव धर्म हिन्दू धर्म की एक प्रधान शाखा के रूप में लोक–प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार शैव दर्शन की भी भारतीय दर्शनों में प्रतिष्ठा है। साथ ही, भारतीय दर्शनों में जो स्थान और प्रतिष्ठा शैव दर्शन को प्राप्त है, वही शैव–दर्शनों में 'काश्मीर शैव दर्शन' को सुलभ है।

दर्शन, धर्म का ही विकसित रूप है। अनेक भारतीय दर्शन यथा जैन, बौद्ध, शाक्त आदि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में धर्म के रूप में ही प्रचलित थे, बाद में उन्होंने दर्शन का रूप ग्रहण किया। ठीक इसी प्रकार शैवमत ने भी धर्म की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि के आधार पर अपने दार्शनिक स्वरूप का निर्माण और विकास किया।

काश्मीर में भी शैव दर्शन का प्रादुर्भाव शैव धर्म से ही हुआ है। अतः काश्मीर की तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचय पाना आवश्यक है।

ऐतिहासिक मान्यता है कि काश्मीर में 'अर्द्धनारी–नटेश्वर' की पूजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है।[१] कालान्तर में, काश्मीर में बौद्ध धर्म का आविर्भाव होने के बाद यद्यपि अनेक राज–परिवार बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए तथापि शैव धर्म के प्रतीक के रूप में पूर्वतः प्रचलित[२] इस पूजा–परम्परा के प्रति राज–परिवार एवं सामान्य जनता, दोनों का ही विश्वास बना रहा। बौद्ध धर्म के आविर्भाव एवं प्रभाव से वह डिगा नहीं। पाण्डेय के निष्कर्ष भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि आठवीं शताब्दी के मध्य तक बौद्ध एवं शैव दोनों ही धर्मों का प्रभाव समानरूप से काश्मीर की जनता पर रहा। अतः उस समय काश्मीर में प्रचलित धर्म न तो शुद्ध रूप से शैव था, न बौद्ध[३], किन्तु दोनों का मिला–जुला धर्म था। फलतः दोनों ही धर्मों को विविध राजाओं का आश्रय एवं प्रोत्साहन मिला। एक ओर मठ–स्तूप बने तो दूसरी ओर शिव मंदिर[४]।

बहुधर्मवाद की इसी पृष्ठ–भूमि में, ८वीं शताब्दी के लगभग, संगमादित्य[५] एवं अत्रिगुप्त[६] के प्रवासी परिवार काश्मीर में आए। ये दोनों प्रवासी परिवार शैवमतावलंबी थे। अतः इन्होंने तत्कालीन सामान्य धार्मिक विश्वासों को व्यवस्थित और प्रामाणिक रूप देने का प्रयत्न किया एवं काश्मीर में शैवमत के अभ्युत्थान के लिए एवं बौद्ध धर्म की अपेक्षा उसके विशेष प्रचार–प्रसार के लिए प्रयत्न किये।

दूसरी ओर बौद्ध धर्म भी अपने धार्मिक विश्वासों को दार्शनिक स्वरूप देने में सतत प्रयत्नशील था। शैवमतावलम्बियों के लिए भी अपने धर्म की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए उसकी

मान्यताओं की दार्शनिक व्याख्या करना अनिवार्य हो गया। इसी प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि के फलस्वरूप शैव धर्म की दर्शनपरक व्याख्याएँ होने लगीं।

पाण्डेय ने काश्मीर में शैव दर्शन की परम्परा के प्रादुर्भाव पर विचार किया है। उनकी मान्यतानुसार यद्यपि यह परम्परा चौथी शताब्दी में आरम्भ हो गई थी[७] तथापि इसे पहली बार सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में ९वीं शताब्दी के मध्य में प्रस्तुत किया गया। इसके प्रथम प्रवर्तक एवं संस्थापक सोमानन्द थे[८]। पाण्डेय के अतिरिक्त अन्य विचारकों[९] ने भी काश्मीर में शैव दर्शन के प्रादुर्भाव का श्रेय सोमानन्द को ही दिया है।

किन्तु उपर्युक्त मान्यता आंशिक रूप से आपत्तिजनक है। वस्तुत: काश्मीर में शैव दर्शन का प्रादुर्भाव सातवीं शताब्दी के अंत अथवा आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हो गया था। क्योंकि 'काश्मीर शैव दर्शन' के नाम से प्रचलित अद्वैतवादी दर्शन क्रमश: तीन शाखाओं में विकसित हुआ– 'क्रम', 'कुल' एवं 'प्रत्यभिज्ञा'। 'क्रम' शाखा ही इनमें सर्वाधिक प्राचीन है– इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि स्वयं पाण्डेय ने सप्रमाण की है[१०]। इस 'क्रम' शाखा की परम्परा का आरम्भ, स्वयं उन्होंने ही, सातवीं–आठवीं शताब्दी के मध्य माना है।[११] अत: काश्मीर में शैव–दर्शन के प्रादुर्भाव का समय, इस प्राचीनतम शाखा के प्रादुर्भाव–काल से ही मानना युक्तियुक्त है। सोमानन्द वस्तुत: काश्मीर में 'प्रत्यभिज्ञा' शाखा के संस्थापक एवं प्रवर्त्तक हैं जो 'कुल' शाखा की अपेक्षा पश्चात्वर्ती हैं[१२]।

काश्मीर शैव दर्शन के प्रादुर्भाव के प्रसंग में एक विलक्षण स्थिति यह है कि जहाँ भारतीय दर्शनों का विकास द्वैत से अद्वैत की ओर हुआ है वहाँ काश्मीर में पहले अद्वैतवादी शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। द्वैतवादी शाखा, जिसके प्रथम काश्मीरी लेखक रामकंठ प्रथम हैं, लगभग दसवीं शताब्दी के अन्त में प्रभाव में आई[१३]।

यद्यपि काश्मीर शैव–दर्शन की ये दोनों अद्वैत एवं द्वैतवादी शाखाएँ बाद में समानान्तर[१४] चलती रहीं तथापि अद्वैतवादी शाखा का ही प्राधान्य बना रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि बाद में अद्वैतवादी शाखा ही 'काश्मीर शैव दर्शन' के नाम से प्रचलित हुई। अर्थात् दूसरे शब्दों में, काश्मीर में प्रादुर्भूत शैव दर्शन की अद्वैतवादी शाखा ही 'काश्मीर शैव दर्शन' का पर्याय बन गई[१५]। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी शाखा में भी लेखकों द्वारा दार्शनिक दृष्टि से खण्डन–मण्डन की आलोचनात्मक शैली अपनाने के कारण 'प्रत्यभिज्ञा' शाखा को ही प्रमुखता[१६] मिली। इसलिए प्रत्यभिज्ञा शाखा को ही कभी–कभी 'काश्मीर शैव–दर्शन' के रूप में ग्रहण किया गया[१७]।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काश्मीर में शैव दर्शन के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :–

१. काश्मीर में शैव धर्म के प्रादुर्भाव का समय अनिश्चित है किन्तु शैव दर्शन के प्रादुर्भाव का समय निश्चित है।

२. काश्मीर में शैव दर्शन के प्रादुर्भाव से पूर्व वहाँ बहुंधर्मवाद प्रचलित था।

३. काश्मीर में शैव दर्शन का प्रादुर्भाव सातवीं और आठवीं शती के मध्य हुआ। नवीं शताब्दी के मध्य से इसने सुव्यवस्थित दर्शन का स्वरूप ग्रहण करना आरंभ किया।

४. काश्मीर में यद्यपि अद्वैतवादी शाखा का प्रादुर्भाव पहले हुआ, द्वैतवादी शाखा का बाद में, तथापि अद्वैतवादी शाखा और उसमें भी 'प्रत्यभिज्ञा' शाखा ही महत्त्वपूर्ण रही है।

सन्दर्भ-

१. (i) Ray, S.C., Early History and culture, p. 116.

(ii) Pandey, K.C. Bhaskari, Intro., p. 1.

२. Pandey, K. C., Abhinavagupta : An Historical and Philosophical study p. 148-49.

३. वही, पृ. १५०

४. (i) Ray, S.C. Early History and Culture of Kashmir, p. 116.

(ii) Pandey, K.C. Bhaskari, Intro. p.3.

५. विस्तारार्थ, द्रष्टव्य–सोमानन्दकृत शिवदृष्टि, ७.११४–९.

६. यह ऐतिहासिक तथ्य है कि काश्मीर का राजा ललितादित्य (७३५–६१ ई०) कन्नौज–नरेश यशोवर्मन पर अपनी विजय के उपरान्त अभिनवगुप्त के प्रथम ज्ञात पूर्वज शैवधर्मावलम्बी अभिनवगुप्त को, उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर काश्मीर लाया था। विशेष विवरण के लिए देखिये–

(i) Abhinavagupta - An Historical and Philosophical Study, p. 146

(ii) काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० ११।

७. "The philosophic tradition, therefore, which Somananda systematies, goes back to about the end of the 4th Century A.D."

भास्करी, खण्ड २, भू.पृ. ४

८. (i) वही भू. पृ. ३–४।

(ii) Abhinavagupta - An Historical and philosophical Study, P. 146

९. (i) जोशी, भंवर लाल, काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० ९२।

(ii) यशुवंशी, शैवमत, पृ० १७०–७१।

(iii) Chatterjee, Kashmir Shavism, p. 3.

(iv) Early History and Culture of Kashmir, p. 173.

१०. "On the basis of the evailable evidence, therefore, we admit the "Kram" systme to be one of the oldest monistic systems of Kashmir"

-Abhinavagupta-An Historical and philosophical study, p. 489.

११. "The tradition of the "Kram" system...... goes back to the close of the 7th and the beginning of the 8th century". Ibid, p. 489 A.D.

१२. Ibid, p., 488, 543.

१३. भास्करी, खण्ड ३, भू. पृ. १८–२०।

१४. वही, पृ. १८ एवं ५७।

१५. (i) काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ. ५।

(ii) Sharma, Kashmir Shavism, Intro., p., 1.

(iii) Chatterjee, Kashmir shavism, p. 1-2

(iv) Abhinavagupta : A study p- 295, 297.

(v) Bhaskari, Pt. II, p. 3.

१६. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृ० ७३२।

१७. (i) जोशी 'काश्मीर शैव दर्शन' के नाम से 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन ही मानते हुए (पृ. १२) अपने ग्रन्थ का आलोचनात्मक भाग प्रस्तुत करते हैं।

(ii) काश्मीरीय शैव दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं..................।'' मिश्र, उमेश, भारतीय दर्शन, पृ० ३८०।

●

काश्मीर शिवाद्वयवाद

शैव दर्शन की विशिष्ट शाखा 'काश्मीर शिवाद्वयवाद' के परिचय से पूर्व शैवागम और शैव दर्शन के बारे में कुछ जानना आवश्यक है।

वेदों की भाँति शैवागमों का उद्भव भी शैव अनादि काल से मानते हैं। कहा जाता है कि इनकी उत्पत्ति भगवान् शिव के पञ्चमुख से हुई। इनके काल के विषय में सामान्य धारणा यह है कि शैवागम ईसा की प्रारंभिक शताब्दी में प्रकाश में आ चुके थे और शैव दर्शन के आधारभूत प्रामाणिक ग्रन्थों के रूप में शङ्कराचार्य (७९९–८२० A.D.) से पूर्व प्रतिष्ठा पा चुके थे क्योंकि शङ्कर ने अपने ग्रन्थ सौन्दर्यलहरी में चौसठ अद्वयवादी शैवागमों का उल्लेख किया है।

काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख दार्शनिक आचार्य अभिनवगुप्त ९२ आगमों का उल्लेख करते हैं। प्रत्येक शैवागमों का एक–एक मत है। इस प्रकार ९२ ही शैवमत हैं। इन्हीं आगमों के आधार पर निम्न आठ शैव दर्शनों का विकास हुआ :–

१. पाशुपत द्वैतवाद

२. सिद्धान्त शैव द्वैतवाद

३. लकुलीश पाशुपत द्वैतवाद

४. विशिष्टाद्वैतवाद

५. विशेषाद्वैतवाद अथवा वीर शैवमत

६. नन्दिकेश्वर मत

७. रसेश्वर शैववाद

८. काश्मीर शिवाद्वयवाद

जिस प्रकार अन्य भारतीय दर्शन वेदों को आधार मानते हैं उसी प्रकार ये सभी शैव दर्शन शैवागमों को आधार मानकर उनकी उक्तियों को प्रमाण स्वरूप उद्धृत करते हैं। इसका यह आशय नहीं कि वेदों से इनका किसी प्रकार का विरोध है। अपितु इसके विपरीत शैव दर्शन वैदिक उक्तियों का भी यत्र–तत्र उल्लेख करते हुए यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि उनके सिद्धान्तों का वेद–वाक्यों से साम्य है। उपनिषदों में भी शैव मत के सिद्धान्त पाये जाते हैं।

'दर्शन धर्म का ही विकसित रूप है'– इस कथन की पुष्टि हम जैन, बौद्ध, वैष्णव और शाक्त दर्शनों में पाते हैं और ठीक यही बात शैव दर्शन पर भी लागू होती है। जिस प्रकार शैव धर्म हिन्दू धर्म की एक प्रधान शाखा के रूप में लोक–प्रतिष्ठित है ठीक उसी प्रकार शैव दर्शन का भी भारतीय दर्शन में विशिष्ट स्थान और प्रतिष्ठा है। साथ ही भारतीय दर्शनों में जो स्थान और प्रतिष्ठा शैव दर्शन को प्राप्त है वही शैव दर्शनों में 'काश्मीर शैव दर्शन' को सुलभ है।

इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन के नाम से हम जिस दर्शन का परिचय प्राप्त कर रहे हैं वह कोई अज्ञात या सर्वथा नवीन दर्शन नहीं है। यह एक प्राचीन दर्शन ही है। ८वीं शती से १२वीं शती तक इसका विपुल प्रचार–प्रसार हुआ।

इस दर्शन को काश्मीर शैव दर्शन के अतिरिक्त त्रिक दर्शन, माहेश्वर दर्शन, अद्वैतवाद, ईश्वराद्वयवाद, शिवाद्वयवाद, स्वातंत्र्यवाद, प्रत्यभिज्ञादर्शन आदि विविध अभिधानों से अभिहित किया जाता है। आइये, इन अभिधानों की सार्थकता के बारे में भी संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करते चलें।

इस दर्शन के प्राय: सभी ग्रन्थकार काश्मीर प्रदेश में उत्पन्न हुए और प्रारम्भ में वहीं इसका व्यापक प्रचार–प्रसार हुआ जिसके कारण इसे काश्मीर या काश्मीरी शैव दर्शन कहा जाता है।

दुर्वासा के मानस पुत्र त्र्यंबक द्वारा प्रचारित होने के कारण इसे त्रैयम्बक दर्शन का व्यक्तिपरक नाम मिला।

इसका नाम त्रिक दर्शन पड़ने के कारण हैं– (१) पशु, पति और पाश इन तीन तत्त्वों का प्रधानतया उल्लेख (२) ९२ आगमों में से तीन– सिद्धा, नामक तथा मालिनी तंत्र सर्वाधिक महत्त्वशाली हैं जिन पर यह दर्शन आधारित है। (३) पर, अपर और परापर के त्रिकों का वर्णन (४) तथा अभेदवाद के आलोक में भेद, अभेद एवं भेदाभेद का वर्णन करने के कारण इस दर्शन के साथ 'त्रिक' नाम संलग्न हुआ।

एकमात्र परमसत्ता शिव में विश्वास करने के कारण शिवाद्वयवाद अथवा ईश्वराद्वयवाद के नाम से भी सर्वत्र यही दर्शन समुल्लिखित है। साथ ही शिव वा परमतत्त्व के ज्ञातृ–कर्तृ–रूप में पूर्णतया स्वतंत्र होने से एवं स्वातंत्र्य परम सत्ता का स्वभाव होने से इस मत को स्वातंत्र्यवाद जैसा विशिष्ट नाम भी मिला। परम सत्ता का यही स्वातंत्र्य अथवा कहना चाहिये कि पूर्ण और वास्तविक स्वातंत्र्य स्वभाव ही इस दर्शन को अन्य दर्शनों से भिन्न और अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित रूप में प्रतिष्ठित करता है।

इसका अन्य सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सिद्धान्तपरक नाम है प्रत्यभिज्ञादर्शन और 'मैं वही परम शिव हूँ' का प्रत्यभिज्ञान ही इस मान्यता का आधार है।

इस प्रकार इस दर्शन को स्थानपरक, व्यक्तिपरक, आधारपरक, तत्त्वपरक एवं सिद्धान्तपरक विविध नाम मिले जो इसके प्रचार–प्रसार की व्यापकता के परिचायक हैं।

वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पल, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, योगराज, सुभटदत्त, महेश्वरानन्द, जयरथ, भास्कर आदि शैवाचार्यों ने शिवदृष्टि, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, विवृत्ति–विमर्शिनी, तन्त्रालोक, परमार्थसार, प्रत्यभिज्ञाहृदय, महार्थमंजरी, भास्करी आदि ग्रन्थों की रचना करके इस दर्शन के साहित्य की अभिवृद्धि की है, इसके स्वरूप को निखारा है।

काश्मीर शैव दर्शन कुल ३६ तत्त्वों को मानता है। स्थूल भूतों से प्रकृति–पुरुष पर्यन्त, कुछ स्वरूप भेद के साथ, २५ तत्त्व वे ही हैं जिन्हें सांख्य दर्शन मानता है। अन्य ११ तत्त्व हैं– माया, कला, विद्या, राग, काल, शुद्ध वा सद्विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और परमशिव।

सांख्य के 'पुरुष' और 'प्रकृति' नित्य और स्वतंत्र हैं किंतु प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार ये अनित्य और परतंत्र हैं; स्वतंत्र तो एकमात्र शिव ही है। प्रकृति तत्त्व यहाँ माया के नाम से जाना जाता है। कला, विद्या, राग, काल और नियति ये पाँच तत्त्व माया के 'कञ्चुक' कहे जाते हैं।

सभी दार्शनिक धाराएँ किसी न किसी रूप में एक ऐसी सत्ता स्वीकार करती हैं जिसके द्वारा इस सृष्टि का नियंत्रण होता रहता है। काश्मीर शैव दर्शन भी इसी प्रकार की चरम सत्ता में विश्वास करता है और वह है परम शिव। यह परम तत्त्व, परासंवित्, परमेश्वर अथवा परम शिव प्रत्येक जीव में रहने वाले शिव–तत्त्व से अभिन्न है। शिव–तत्त्व ही आत्म–तत्त्व है और आत्म–तत्त्व ही शिव–तत्त्व। चैतन्य स्वरूप यह तत्त्व न केवल जीव में अपितु संसार की समस्त जड़ और चेतन वस्तुओं में व्यष्टि और समष्टिरूप से वर्तमान है। यह अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी एक है और एक रूप में सभी वस्तुओं में है। यह सभी देश तथा काल में रहते हुए भी देशकालातीत है। विश्व में व्याप्त होते हुए भी विश्वातीत है। यह नित्य और अनन्त है। इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुतः कुछ भी ग्राह्य या ग्राहक के रूप में नहीं है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक है और पूर्णानन्द इसका स्वभाव है। यह प्रकाशात्मा है।

यद्यपि वैशेषिक भी ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वकर्त्ता के रूप में मानते हैं किन्तु उनका ईश्वर स्वतन्त्र नहीं। वह परमाणुओं की सहायता से सृष्टि रचना करता है। इसके अतिरिक्त न्याय–दर्शन की विचारधारा भी बहुत्ववादी है। किंतु शैवदर्शन की विचारधारा का आधार है अद्वयवाद।

सांख्य ने 'पुरुष' को चैतन्य माना और अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म चैतन्य और आनन्द स्वरूप है। किन्तु उस चेतनता से क्या लाभ जो सक्रिय न हो। अर्थात् कर्तृत्त्व शक्ति ही चेतनता

का प्रमुख आकर्षण है जिसका सांख्य और वेदान्त में अभाव है। ब्रह्म सर्व शक्तिमान तो है किन्तु वह करता कुछ नहीं। फिर उस शक्ति का प्रयोजन ही क्या? प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव सब कुछ जानता है और सब कुछ करता है अर्थात् वह कर्तृस्वरूप है, ज्ञातृस्वरूप है और स्वतंत्र है। परम सत्ता का यही स्वभाव अन्य दर्शनों से इस दर्शन को भिन्न करता है। इस दर्शनानुसार आत्मा सर्वदैव और स्वभाव से ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय को करने वाला है। वेदान्त में केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है किंतु शैव दर्शन समस्त भाव जगत् को सत् मानता है। यही परम शिव विश्व का निमित्त एवं समवायिकारण भी है।

उपाधि–रहित ज्ञान और क्रिया अर्थात् विमर्श ही इसका स्वभाव है। जिस प्रकार अग्नि में दाह–शक्ति होती है उसी प्रकार शुद्ध प्रकाशस्वरूप शिव में विमर्श–शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही शिव 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम्' स्वभाववाला होता है। इसी विमर्श शक्ति को चित्, चैतन्य, परावाक् परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। यदि शिव में 'विमर्श' न हो तो वह जड़ और अनीश्वर हो जाएगा। जैसे स्फटिक आदि भी प्रकाशरूप तो हैं किन्तु उन्हें अपनी सत्ता की प्रतीति नहीं होती।

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।'

परन्तु यह भी सत्य है कि बिना शिव के शक्ति नहीं रह सकती और न ही कुछ कर सकती है। शक्ति के बिना शिव शव है। अतः दोनों में अभेद है, तादात्म्य है, नित्य सामरस्य है। शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं– 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः।'

इस शक्ति के स्वरूप तो अनेक हैं किन्तु उनमें पाँच ही प्रमुख हैं– चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया।

प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा इस जगत् को किसी न किसी रूप में उस परम सत्ता से सम्बद्ध करती है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार भी विश्व का विकास चिति का ही क्रिया–कौतुक है, शिव की ही लीला है। जब परमेश्वर की शक्ति में उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है तब जगत् का लय। उन्मेष–निमेष अनादि हैं, अनन्त हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस दर्शनानुसार सृष्टि शक्ति का उन्मेष है अर्थात् जो वस्तु पहले थी उसी की मात्र अभिव्यक्ति होती है। किसी नवीन वस्तु का प्रादुर्भाव नहीं होता। जिस प्रकार विशाल वट–वृक्ष बीज में समाहित रहता है उसी प्रकार यह विश्व शिव में समाहित है। जिस प्रकार निर्मल स्फटिक मणि नील–पीतादि वर्णों से उपहित होकर विविध रूपों में प्रतीत होती है उसी प्रकार परम शिव भी एक होते हुए सुर, मनुष्य, पशु, पादप आदि पदार्थों से युक्त होकर नानारूपों में प्रकट होता है। किन्तु जिस प्रकार विविध उपाधियों से युक्त होने पर भी स्फटिक

मणि को स्फटिक मणि ही कहा जाता है उसी प्रकार नाना ग्राह्य–ग्राहकों से उपहित होने पर भी उस परमेश्वर के स्वरूप की कोई हानि नहीं होती।

यह विश्व एक नहीं अपितु जीव–भेद से अनेक है, विभिन्न है। जैसे एक नेत्र और दोनों नेत्रों की सहायता से देखा गया एक ही चित्र विभिन्न रूप में प्रतीत होता है।

सामान्य चित्रकार चित्र–निर्माण के लिए विविध उपादानों–फलक, रंग, कूची आदि का–सहारा लेता है किंतु वह अलौकिक कलाकार शिव स्वयं ही उपादान और निमित्त कारण बनकर अपने में ही विचित्र विश्व की संरचना करता है।

यह संसार ईश्वर की इच्छा का ही प्रतिफलन है। जब वह चाहता है कि अपनी क्रियाओं के रूप में मैं अवस्थित रहूँ, एक होकर भी बहुत से रूपों में रहूँ तब अस्ति, जायते आदि भाव के छः विकारों और उनके नाना प्रकार के भेदों के रूप में संसार की रचना होती है। वस्तुतः क्रिया तो एक ही है– उसकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और इसी से विकास होता है जिसका अन्त विनाश में है।

केवल इच्छा से सृष्टि रचना होती है– हमारी सांसारिक बुद्धि इस बात को नहीं मानती। यही कारण है कि इस बात को समझने के लिए लौकिक उदाहरण दिया भी नहीं जा सकता। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए इस दर्शन की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक मत है। तंत्र के प्रभाव से, इच्छा–मात्र से ही क्षण भर में बहुत–सी चीजें उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरणार्थ योगी बिना मिट्टी और बीज के केवल इच्छा मात्र से ही घट और अंकुर उत्पन्न कर देते हैं और ये घट–अंकुर केवल इन्द्रजाल या आभास मात्र नहीं होते प्रत्युत लौकिक घट–अंकुर की तरह स्थित होते हैं और आवश्यक क्रियाओं के सम्पादन में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार वह परम शिव लीला से और मात्र लीला के लिए इस जगत् का उन्मेष करता है। यह जगत् भी उतना ही सत्य है जितना की शिव। जड़ और चेतन, जीव और जगत् तथा शिव और शक्ति सत्य हैं क्योंकि ये परम शिव से अभिन्न हैं। ठीक वैसे ही जैसे विविध तरंगें महासमुद्र या जल से भिन्न नहीं।

मोक्ष के स्वरूप तथा उपायों के विषय में इस दर्शन के विचार जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि बन्धन और उसके कारण के विषय में यह दर्शन क्या कहता है। साथ ही प्रश्न उठता है कि जब सब कुछ शिव ही है तब बन्धन और मोक्ष कैसा और क्यों?

प्रत्यभिज्ञादर्शन में ज्ञान ही बन्धन का कारण है– 'ज्ञानं बन्धः'। ज्ञान का अर्थ यहाँ है अज्ञानात्मक ज्ञान। क्योंकि अज्ञान भी तो ज्ञान का ही एक प्रकार है और अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं अपितु परिमित या अपूर्ण ज्ञान है।

इस अज्ञान का पारिभाषिक नाम है मल। मल यद्यपि एक ही है तथापि तरतम भाव से उसकी आणव, मायीयऔर कार्म इन तीन रूपों में कल्पना की गई है और इसी मल के तारतम्य के विचार से प्रमाताओं की अनेक श्रेणियाँ मानी गई हैं— शिव, मन्त्र महेश, मंत्रेश्वर, मंत्र विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। गौण–मुख्य भाव से इनके भी अनन्त प्रकार हो सकते हैं।

बन्धन का कारण जैसा कि कहा गया, अज्ञान या मल है और मल का कारण है परम शिव का स्वातंत्र्य स्वभाव। मल के कारण ही प्रमाताओं को प्रकाश–विमर्शमय स्वभाव वाले शिव के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। वह प्रकाश–विमर्श को उसका धर्म समझने लगता है जबकि वस्तुत: वह उसका स्वरूप ही है। मल के कारण ही परमेश्वर का सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व स्वरूप संकुचित हो जाता है और वह स्वयं को 'कुछ जानने' और 'कुछ करने वाला' समझने लगता है।

शैवाचार्यों की मान्यतानुसार यह स्वरूपाख्याति अर्थात् वास्तविक स्वरूप संबंधी यह अज्ञान भी विशेषेच्छाजन्य ही है। ईश्वर की इच्छा से ही बंधन के मूल कारण माया तथा मलों का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि वही परम शिव बन्ध और मोक्षपरक समस्त कृत्यों का सम्पादन करता है।

जब परमेश्वर को अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य स्वभाव का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तब वह कल्पित बद्धता के अभिमान से छूटकर पूर्णाहन्ता के चमत्कार में प्ररूढ़ होता है। यही अवस्था पूर्णतावस्था की अपेक्षा से मोक्ष कही जाती है। अपने स्वरूप की इस यथार्थप्रतीति या प्रत्यभिज्ञान में प्रमाता अपने को शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्य इन सबसे उत्तीर्ण शुद्ध प्रकाशविमर्शरूप संवित् अर्थात् शुद्ध अहम् रूप में अनुभव करता है। इस अहन्ता में इदन्ता का तनिक संस्पर्श नहीं होता। इस प्रकार आत्मा में शिव का प्रत्यभिज्ञान अथवा "मैं वही शिव हूँ' का ज्ञान ही मोक्ष है। यह मुक्ति कोई नूतन उपलब्धि नहीं है। यह तो उसका स्वभाव ही है। इसीलिये कहा गया है कि वस्तुत: न तो कोई बन्धन है, न मोक्ष।

चिदात्मक स्वरूप की यह वास्तविक प्रतीति कैसे प्राप्त हो? इस यथार्थ अनुभूति की प्राप्ति के क्या उपाय हैं? प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अनुसार उपासना–धारणा, ध्यान, पूजा, जप, तप, पूजादि— ये सभी आंतर–बाह्य उपाय मायीय हैं। शिवतत्त्व तक इनकी पहुँच नहीं; क्योंकि वह मायोत्तीर्ण और प्रकाशरूप है। अत: इस दर्शनानुसार किसी भी उपाय के द्वारा शिवता का प्रकाशन संभव नहीं क्योंकि यह मायीय व्यवहार भी तो उसी स्वयं प्रकाशमान शिव से प्रकाशित है। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि शैव मत में मुक्ति के लिए उपाय उल्लिखित हैं ही नहीं। इसके अनुसार मोक्ष–हेतु किये गये समस्त प्रयत्नों का कार्य मलावरण को हटाने

तक ही सीमित है। मलों के हट जाने पर पुरुष का स्वाभाविक शिवभाव, मेघावरण– रहित सूर्य की भाँति स्वयं ही प्रकाशित होने लगता है। अत: मलों के प्रक्षालन के उपायों को ही मुक्ति के उपाय कहा गया है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्रों के अनुसार इन्हें चार वर्गों में विभक्त किया गया है– आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय एवं क्रियोपाय। इन उपायों का मूल आधार है भक्ति जिसके बिना उपायों के प्रति रुचि और प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव भक्ति को ही परम उपाय कहा गया है और वही भक्ति पराकाष्ठा को प्राप्त होने पर मोक्ष कही जाती है।

'भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षाऽभिधीयते।'

इस भक्ति का उदय परमेश्वर के अनुग्रह या शक्तिपात पर निर्भर है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मोक्ष–धारणा अत्यन्त व्यापक तथा विकसित है। सांख्य–योग की भाँति यद्यपि शैव भी पुरुष के स्वरूप दर्शन को मोक्ष मानता है किन्तु निष्क्रियता को स्थान न देकर मोक्षावस्था में भी विमर्श को मानता है। सांख्य में २४ तत्त्वों के ज्ञान को मोक्ष कहा गया है किन्तु बुद्धि के अचेतन और पुरुष के निर्लेप स्वभाव होने कारण वह समयक् ज्ञान होगा किसे? न्याय–वैशेषिक की भाँति शैव मुक्तात्मा को पत्थर के समान भी नहीं मानता। बौद्धों के निर्वाण की भाँति आत्मा की पूर्णता में तो शैव भी आस्था रखता है परन्तु बौद्ध आत्मा को अनित्य या क्षण–भंगुर मानता है। इसलिये मोक्ष के स्वरूप में भेद हो जाता है। वेदान्त की मुक्तावस्था में सारे जगत् का रज्जु–सर्प की भाँति बाध हो जाता है। किन्तु शैव दार्शनिक जगत् को मोक्षावस्था में भी इस प्रकार असत् एवं प्रातिभासिक रूप में नहीं देखते।

अत: शैवाचार्यों का मोक्ष कोई ऐसा मोक्ष नहीं जिसमें अलौकिक देह धारण करके प्रवेश पाया जाता हो। अपितु यह प्रत्यभिज्ञान तो शरीर–धारण–काल में भी हो सकता है इसलिये इनका मोक्ष जीवन्मुक्ति कहलाता है।

अत: वास्तविक अद्वैत तत्त्व का स्वरूप काश्मीर शिवाद्वयवाद में ही देखने को मिलता है न कि शाङ्कर या अन्य अद्वैत मत में। मेघ सूर्य को ढक लेते हैं किन्तु यह मेघ भी तो अन्तत: सूर्य की ही महिमा है। अत: जो सूर्य है वही मेघ है क्योंकि वह उसी की शक्ति है। इसी प्रकार जो माया है वही ब्रह्म है। प्रकृति और पुरुष एकान्तत: एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य ही वास्तविक अद्वैत है। इसी स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान के लिए भक्ति, कर्म तथा ज्ञान की अपेक्षा होती है। इस प्रत्यभिज्ञान के उपरान्त ही दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही भारतीय दर्शन और जीवन का चरम लक्ष्य है।

काश्मीर शैव दर्शन एवं शङ्कराचार्य

शङ्कराचार्य (७८८–८२०) अद्वैत वेदान्त के महान् दार्शनिक हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ वैष्णव सम्प्रदाय के थे किन्तु धर्म की दृष्टि से शैव थे और दर्शन की दृष्टि से वेदान्ती। उनके बाह्य व्यक्तित्व के चिन्ह त्रिपुण्ड्र आदि साधना एवं व्यवहार के क्षेत्र में उनके शैव होने की पुष्टि करते हैं[१]। वे दक्षिण के निवासी थे जहाँ आगमों पर आधारित शैव मत सुप्रतिष्ठित था। शङ्कर शैव मत के धार्मिक पक्ष एवं आगम साहित्य से ही परिचित नहीं थे अपितु इस मत का दार्शनिक पक्ष भी उन्हें ज्ञात था। उन्होंने **ब्रह्मसूत्र–भाष्य** में पाशुपत जैसे द्वैतवादी शैव दर्शन का खण्डन किया है। इसी तरह दक्षिण में प्रचलित शैव मत की द्वैतवादी दार्शनिक शाखा 'शैव सिद्धान्त' से वे सम्भवतया परिचित थे, क्योंकि उनके आविर्भाव काल से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् सातवीं शती में इस शाखा के दो सन्त 'अप्पर' तथा 'मणिक्कवासगर' हो चुके थे[२]। इस शाखा का क्या और कितना साहित्य शङ्कर को उपलब्ध था यह कहना कठिन है क्योंकि वर्तमान में इस शाखा का जो साहित्य उपलब्ध होता है वह उनके बाद का है[३]।

शङ्कराचार्य के समय शैव दर्शन की क्या स्थिति थी एवं स्वयं उनकी दृष्टि में इसका क्या दार्शनिक महत्त्व था इसकी जानकारी का अच्छा एवं प्रामाणिक आधार **ब्रह्मसूत्र** (२.२.३७) पर उनका भाष्य है। इसमें उन्होंने माहेश्वर मत का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र[४] के अनुसार शैव, पाशुपत, कारुणिक–सिद्धान्ती एवं कापालिक इन चारों को मिलाकर माहेश्वर मत कहा जाता है। वस्तुत: माहेश्वर मत किसे कहा जाये इस विवाद से हटकर देखें तो यह निश्चित है कि **ब्रह्मसूत्र** में आलोच्य मत पाशुपत ही है। इसका कारण यह है कि पाशुपत द्वैतवादी है और द्वैतवादी दर्शनों के क्रम में ही इसकी समालोचना की गयी है। पाण्डेय[५] भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं।

पाण्डेय शङ्कर को न केवल शैव धर्म से प्रभावित मानते हैं अपितु उन्हें शैवस्तोत्रों के रचयिता भी स्वीकार करते हैं उनके विचार में दक्षिणामूर्तिस्तोत्र तथा आनन्द लहरी शंकर की ही रचनाएँ हैं। इन दो स्तोत्र रचनाओं से ईश्वर–प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के कतिपय कथनों एवं पारिभाषिक शब्दों में साम्य[६] प्रदर्शित करते हुए वे यह मत व्यक्त करते हैं कि शंकर का परम सत्ता का स्वरूप वही है जो प्रत्यभिज्ञादर्शन[७] का है।

पाण्डेय का यह मत विचारणीय है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र एवं सौन्दर्यलहरी जैसी रचनाएँ शङ्कर की ही हैं, यह अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। इन रचनाओं को शङ्कर के प्रामाणिक साहित्य में परिगणित नहीं किया जाता है[८]। दूसरी ओर यदि तर्क–रक्षा के लिए अथवा शङ्कर के धर्म–दृष्ट्या शैव होने के प्रकाश में इस स्तोत्र साहित्य का रचनाकार उन्हें

मान भी लिया जाये तब भी उनकी इस धर्मदृष्टि की तुलना किसी दर्शन–दृष्टि से नहीं की जा सकती, क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के जिस ग्रन्थ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** से वे दक्षिणामूर्तिस्तोत्र की तुलना करते हैं और जिससे वे शब्द–साम्य प्रदर्शित करते हैं वह दर्शन का ग्रन्थ है। यही नहीं, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र जैसी रचनाओं में उनके दर्शन–मत की अभिव्यक्ति मानने से स्वयं उन्हीं के अन्य ग्रन्थों से मतभेद उत्पन्न हो जाएगा, अर्थात् शंकर के ही मत में असंगति उत्पन्न हो जाएगी। जहाँ तक **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** और **सौन्दर्यलहरी** तथा **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में शब्द एवं विचार–साम्य का प्रश्न है वह होना स्वाभाविक है क्योंकि शङ्कर आगम–तंत्र एवं शैव मत से सुपरिचित थे, वे दक्षिणवासी थे। वहाँ शैव मत का प्रचार था। ऐसी स्थिति में तन्त्रादि साहित्य के शब्द और विचारों से उनकी रचनाओं दक्षिणामूर्तिस्तोत्र आदि में (यदि उन्हीं की सिद्ध मान ली जाती हैं तो) समता होना असम्भव नहीं। साथ ही पुनः ऐसे शब्द एवं विचारों की काश्मीर शैव दर्शन के शब्द–विशेषों एवं विचारों से समता होना भी सम्भव है क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन का आधार भी आगम एवं तंत्र ही है। इसके दार्शनिकों ने भी अधिकांश शब्द उसी तंत्र साहित्य से लिये हैं जो शङ्कर के काल में उपलब्ध था।

इसके साथ ही उक्त रचनाओं की समता के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि काश्मीर शैव दर्शन और शङ्कर के परमतत्त्व के स्वरूप में भेद नहीं है। वस्तुतः दोनों के परमतत्त्व के स्वरूप में भेद है।

शङ्कर देश के शेष भागों में बौद्धों से संघर्ष करने और उन्हें पराजित करने के बाद नवीं शती के प्रारम्भ में काश्मीर आए थे। फर्कुहर ने 'इस परम्परा में विश्वास व्यक्त किया है। इस यात्रा की मान्यता का एक मात्र आधार दिग्विजय जैसी रचनाएँ हैं जिनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। पाण्डेय का विश्वास है कि अन्य बातें भले ही सन्देहास्पद हों, शङ्कर ने काश्मीर का भ्रमण किया था यह सर्वथा असत्य नहीं हो सकता। वे इस विश्वास के दो कारण बताते हैं– पहला यह कि स्थानीय परम्परा आज भी ऐसा ही मानती है और दूसरा यह कि शङ्कर के तांत्रिक दर्शन का त्रिक दर्शन पर इतना महान् प्रभाव है कि इस दर्शन के संस्थापक–लेखकों से शङ्कर का व्यक्तिगत सम्पर्क आवश्यक है ताकि इतने शीघ्र एवं कम समय में शङ्कर अपने दर्शन की उनके सम्मुख व्याख्या कर सकें[१०]'।

वस्तुतः भारतीय समाज और साहित्य में दन्तकथा और परम्परा के नाम पर अनेक असंगत एवं सर्वथा अप्रामाणिक कथाएँ प्रचलित हैं। कालिदास के सम्बन्ध में **भोजप्रबन्ध** की कथाओं की प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता से कौन, कैसे सहमत हो सकता है? क्या **शङ्करदिग्विजय** की हर घटना अथवा उन घटनाओं के मूल आधार से सहमत हुआ जा सकता है? परम्परा के नाम पर यह भी कहा गया है कि गौडपाद के शिष्य गोविन्दपादाचार्य अभिनव–गुप्त के गुरु थे[११]। इन भ्रमों का कारण सम्भवतया नाम–साम्य है और स्वयं पाण्डेय ने इस तरह की मान्यताओं को निराधार सिद्ध किया है[१२]।

एक परम्परा यह भी कहती है कि जब शङ्कर काश्मीर आए थे तब उन्हें अपने मत की अपेक्षा शैव मत की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के लिए विवश किया गया था। परंतु, काश्मीर के विविध पक्षों का विस्तृत एवं गहन अध्ययन करने वाले सूफी का विचार है कि शङ्कर का कोई प्रमुख ग्रन्थ इस परम्परा के कथन की पुष्टि नहीं करता। अत: इसे उचित नहीं माना जा सकता। सम्भवतया यह शङ्कर नामधारी कोई अन्य व्यक्ति हो[१३]।

शङ्कर की काश्मीर यात्रा के अधिक विस्तार में जाना तथा उसकी ऐतिहासिकता या प्रामाणिकता का विवेचन करना यहाँ अप्रासंगिक है। शङ्कर और काश्मीर शैव–दर्शन में परम्परा–सम्बन्ध जानने के लिए इस यात्रा का विवरण सहायक हो सकता था। परंतु इसका विवादरहित एवं सर्वमान्य विवरण उपलब्ध नहीं है। अत: केवल इस यात्रा के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वस्तुत: यह भारतीय दर्शन के इतिहास की एक अपूर्णता ही कही जाएगी कि इसके सर्वाधिक प्रतिष्ठित आचार्य शिरोमणि की सर्वमान्य प्रामाणिक जीवनी अब तक नहीं लिखी जा सकी। जो प्रयत्न इस दिशा में किये भी गए हैं उनमें प्रामाणिकता एवं परस्पर संगति का अनेकत्र अभाव है।

काश्मीर शैव दर्शन और शङ्कर या शाङ्कर मत में से किसने किसको प्रभावित किया? तथा कितना प्रभावित किया? इस बारे में सामान्य रूप से दोनों ही तरह के मत व्यक्त किये गए हैं। पूर्व पृष्ठों में एक परम्परा का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार 'जब शङ्कर काश्मीर आए थे तब उन्हें अपने मत की अपेक्षा शैव मत की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के लिए विवश किया गया था।' इसी तरह यह भी कहा जाता है कि शङ्कर का अन्य सम्प्रदायों के पण्डितों के अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय के पण्डितों से भी शास्त्रार्थ हुआ था[१४]। परन्तु 'विवश किया जाना' तथा 'शास्त्रार्थ होना' अपने आप में ऐसे कथन हैं जिनके आधार पर दोनों ही के परस्पर प्रभावित होने की ध्वनि निकलती है। वस्तुत: परम्परा के नाम पर प्रकट की गयी ऐसी मान्यताएँ एवं उल्लेख 'शैव मत और शङ्कर' में परस्पर प्रभाव ढूँढ़ने वाले जिज्ञासु को किसी ठोस निर्णय पर नहीं पहुँचाते।

पाण्डेय के मतानुसार 'शङ्कर के तांत्रिक दर्शन का त्रिक दर्शन पर महान् प्रभाव है'। इस प्रसङ्ग में यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि शङ्कर के दर्शन का त्रिक दर्शन पर यदि प्रभाव मान भी लिया जाये तब भी शङ्कर का वह दर्शन तांत्रिक नहीं वैदिक है– अद्वैत वेदान्त है। भारतीय दर्शन के इतिहास में इसी रूप में शङ्कर की प्रतिष्ठा है न कि तांत्रिक दार्शनिक के रूप में, क्योंकि वस्तुत: शङ्कर का दर्शन नहीं अपितु त्रिक तांत्रिक दर्शन है।

यदि पाण्डेय की उपर्युक्त मान्यता का आधार शङ्कर की तन्त्र रचनाएँ या स्तोत्र साहित्य हैं तब भी इस मान्यता से सहमति प्रकट नहीं की जा सकती क्योंकि धर्म–भावना से लिखी गयी उन रचनाओं को न तो शङ्कर की रचनाएँ माना जा सकता है न ही इससे उनका काश्मीर शैव या त्रिक दर्शन पर प्रभाव सिद्ध होता है।

उपर्युक्त तन्त्र–रचनाओं के प्रणेता चाहे शङ्कर हों अथवा कोई दूसरा, परन्तु यह निश्चित है कि इन रचनाओं का आधार तन्त्र–दृष्टि है। अतः यदि शङ्कर को इनका रचयिता माना जाता है तो भी ये रचनाएँ शङ्कर के दार्शनिक विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करती अपितु शङ्कर के दर्शन–मत से भिन्न ही मत व्यक्त करती हैं, ऐसी स्थिति में शङ्कर के दर्शन का काश्मीर शैव–दर्शन पर प्रभाव जानने के लिए इन रचनाओं को आधार नहीं बनाया जा सकता।

फर्कुहर[१५], बनर्जी[१६] तथा यदुवंशी[१७] के विचार में शङ्कर के प्रभाव के फलस्वरूप काश्मीर में वसुगुप्त के **शिवसूत्र** की रचना हुई तथा शैव मत के भावी आन्दोलन को बल मिला। पाण्डेय[१८] भी **शिवसूत्र** की रचना में शङ्कर का ही प्रभाव मानते हैं।

वस्तुतः ८वीं शती का अन्तिम एवं नवीं शती का प्रारम्भिक भाग भारतीय दर्शन के इतिहास में अद्वैतवाद के विकास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण चरण है। इस काल में बौद्धों के विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के विरुद्ध जो वातावरण बन रहा था, बौद्धेतर भारतीय दर्शनों की विचारधाराओं में जो परिवर्तन आ रहा था उसके फलस्वरूप दक्षिण में वेदादि के आधार पर शङ्कर मत का आविर्भाव हुआ तथा उत्तर में आगमों के आधार पर काश्मीर शैव दर्शन का। शङ्कर और काश्मीर–वासी वसुगुप्त तथा सोमानन्द (नवीं शताब्दी का प्रारम्भ) की लगभग समकालीनता इस बात की पुष्टि करती है कि दोनों दिशाओं में बौद्धों का विरोध प्रबल था। शङ्कर मत एवं काश्मीर शैव दर्शन के आविर्भाव के मूल में बौद्धों के प्रति प्रतिक्रिया की भावना थी। शङ्कर बौद्धों के विरुद्ध अपने अभियान में अपूर्ण सफलता प्राप्त करते हुए अपने मत के प्रचार–प्रसारार्थ देश के अन्य भागों की यात्रा भी करते रहे, जबकि काश्मीर के दार्शनिक अपनी भौगोलिक सीमा में ही बौद्धों से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में संघर्ष करते रहे। शङ्कर का अपनी यात्रा के क्रम में काश्मीर आना और वहाँ पूर्वतः प्रचलित प्रबल बौद्ध विरोध को उनकी यात्रा से बल मिलना भले ही सम्भव हो परन्तु इसके आधार पर वसुगुप्त के शिवसूत्रों की रचना में मात्र शङ्कर का प्रभाव सिद्ध नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि शङ्कर के अद्वैतवाद से ही प्रभावित होकर काश्मीर में शिवाद्वैतवादी विचारधारा का आरम्भ हुआ क्योंकि शङ्कर ही भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रथम अद्वैतवादी नहीं हैं। शङ्कर के पूर्व गौड़पाद (एवं गोविन्दपाद) वेदान्त मत के ही अन्तर्गत इसका प्रवर्तन कर चुके थे। वस्तुतः अद्वैत विचारधारा के प्रामाणिक आरम्भ का श्रेय प्रथमतः उपनिषद् एवं उनके बाद बौद्ध मत को जाता है[१९]। अथवा स्वयं शङ्कर का अद्वैतवाद, शून्यवाद और विशेषतः नागार्जुन से प्रभावित माना गया है[२०] और इसीलिए इन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक की उपाधि दी जाती है। यही नहीं ताराचन्द[२१] की तो दृढ़ मान्यता है कि शङ्कर ने अपने मत के विविध पक्षों को भले ही उपनिषद् से लिया हो किन्तु उन्हें एक सूत्र में व्यवस्थित करने में वे इस्लाम से प्रभावित हुए हैं।

काश्मीर शैव दर्शन के प्रादुर्भाव में शङ्कर का 'महान् प्रभाव' ढूंढ़ने से पूर्व हमें इस दर्शन की शाखाओं को नहीं भूलना चाहिए। काश्मीर शैव दर्शन की प्रथम शाखा क्रम है जिसका प्रादुर्भाव सातवीं शती में हो चुका था। प्रत्यभिज्ञा इसकी दार्शनिक शाखा है जिसके संस्थापक सोमानन्द थे। सोमानन्द वेद, उपनिषद् और गीता को सम्मानपूर्वक तथा उनसे अपनी सहमति प्रकट करते हुए उद्धृत करते हैं परन्तु शङ्कर मत का कोई स्पष्ट संकेत नहीं देते। शङ्कर ही नहीं, **ब्रह्मसूत्र** के रचयिता बादरायण और गौड़पाद का भी **शिवदृष्टि** में स्पष्ट उल्लेख न होना यह सन्देह उत्पन्न करता है कि वे इनके दर्शन से भी परिचित थे या नहीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सोमानन्द इनके पूर्व के हैं अथवा वे वेदान्त दर्शन के नाम पर वेद, उपनिषद् और गीता को ही समझते थे। हाँ, यह सुनिश्चित है कि सोमानन्द वेदान्त दर्शन के विविध एवं अव्यवस्थित मतों से परिचित थे। उन्होंने शिवदृष्टि के छठें आह्निक में अनेक वेदान्त मतों का उल्लेख किया है तथा उनसे अपनी असहमति प्रकट की है।

वस्तुत: वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन दो भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के प्रतिनिधि मत हैं। वेदान्त दर्शन वैदिक विचारधारा का तथा काश्मीर शैव दर्शन आगमिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। अत: इन दोनों विचारधाराओं में जो साम्य–वैषम्य है, वही दोनों दर्शनों में भी। फलत: काश्मीर शैव दर्शन के ग्रन्थों में वेदान्त दर्शन से सहमति एवं असहमति दोनों का ही उल्लेख सहज एवं स्वाभाविक है।

दक्षिण के शैव मतावलम्बी आगमों की द्वैतवादी व्याख्या में विश्वास करते थे किन्तु उत्तर के दार्शनिक मानते थे कि आगमों में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है[२२] अत: शङ्कर मत अद्वैत–दृष्टि से साम्य के कारण उत्तरी शैव मत काश्मीर शैव दर्शन के अधिक निकट है। वस्तुत: शङ्कर मत ऐसा दर्शन है जिससे काश्मीर शैव दर्शन के दार्शनिक, अन्य दर्शनों की तुलना में, अधिकतम सहमत हैं। इसीलिए यह[२३] विचार व्यक्त किया गया है कि काश्मीर शैव दर्शन वेदान्त दर्शन का ही अग्रिम सोपान है। दोनों ही दर्शन समान रूप से बौद्ध विरोधी हैं। समान प्रयोजन एवं अद्वैतवादी दृष्टि के कारण, काश्मीर शैव दर्शन के दार्शनिकों ने शाङ्कर मत की आलोचना एवं परिष्कार जहाँ आवश्यक समझा वहाँ वैसा किया तथा इस प्रकार अद्वैतवाद के ही पूर्ण स्वरूप अर्थात् महाद्वैत की सिद्धि का पक्ष प्रस्तुत किया।

सन्दर्भ-

१. द्रष्टव्य *Bhaskari* III p. 15
२. द्रष्टव्य– यदुवंशी, **शैवमत**, पृ. १६९।
३. सद्यो ज्योति (९वीं शताब्दी) की रचनाएँ उपलब्ध हैं। विस्तारार्थ द्रष्टव्य *Bhaskari* p. 15.
४. **भामती**, २.२.३७।
५. द्रष्टव्य Bhaskari XXX, p. 10 pp. 14, 64.

६. Pandey, Abhi, p. 152.

७. "If we compare the philosophical ideas of Sankara as contained in his Dakshina Murti Stotra and explained by his pupil Suresvaracharya in his commentary on the above stotra, we find that Sankara's conception of the ultimate reality is the Same as that of Pratyabhijna. In fact he uses all the technical expressions in the same sense in which they are used in the Pratyabhijna"

वही, पृ. १५१.

८. शर्मा के विचार में यह तान्त्रिक साहित्य सम्भवत: किसी अन्य तांत्रिक ने लिख कर शंकर के नाम से प्रचारित किया है। द्रष्टव्य *Kashmir Saiviam*. p. 51.

९. Farquhar, J.N.; *An Outline of the Religious Literature of India*, p. 198.

१०. Pandey; *Adhi*, pp. 151-2.

११. इस परम्परा का उल्लेख कण्डु ने *Non-Dualism in Saiva and Sakta Philosophy*, (p.17) किया है।

१२. द्रष्टव्य– Pandey] p. 4-5.

१३. द्रष्टव्य– Sufi, G.M.D., Kashmir Vol I, p. 70.

१४. द्रष्टव्य– यदुवंशी, **शैवमत**, पृ. १५५.

१५. द्रष्टव्य– Farquhar, J.N., *An Outline of the Religious Literature of India*, p. 198.

१६. द्रष्टव्य– Banerjee, S.T. *Cultural Heritage of Kashmir*, p. 108

१७. यदुवंशी, **शैवमत**, पृ० १७१.

१८. द्रष्टव्य– Pandey, Abhi, p. 154.

१९. Dasgupta, *History of Indian Philosophy*, Vol. I, p. 494.

२०. Bapat; *2500 Years of Buddhism*, p. 316.

२१. Tarachnd, *Influence of Islam on Indian Culture*, pp. 108-111. Sufi G.M.D.; Kashmir, Vol. I p 71.

२२. दक्षिण के 'शैवसिद्धान्त' और वेदान्त में परस्पर भेद के लिए द्रष्टव्य– Pandey, *Bhaskari* III, p. 120,
Shivaraman, K *Saivasm in Philosophical Perspective*, p. 150.
Ponniah V. *The Saiva Siddhanata Theory of Knowledge*, pp. 76-80, 341-4.

२३. बुल्हर ने अपनी रिपोर्ट १८७६ में प्रत्यभिज्ञा दर्शन और शङ्कर की मान्यताओं पर टिप्पणी की है–

"The Pratyabhijna system appears to be pure idealism and an application of Sankaracharya's principles to the Saiva Philosophy.

प्रत्यभिज्ञादर्शन में जगत्स्रष्टा ईश्वर

दर्शन जिन समस्याओं के समाधान को अपना लक्ष्य मानता है उनमें सृष्टि का मूल कारण, नियमन तथा संहार प्रमुख है। अन्य समस्याएँ इन्हीं में अन्तर्भूत हैं। इस त्रयी में भी सृष्टि के प्रादुर्भाव का प्रश्न प्राथमिक है और शेष प्रश्न परकालिक। जो दर्शन–सम्प्रदाय सृजन की समस्या के समाधान के रूप में जिस तत्त्व या सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है उसके लिए यह स्वाभाविक है कि वह नियमन और प्रलय तथा इनसे संबद्ध अन्य समस्याओं के समाधान के लिए भी उसी सिद्धान्त का निर्वाह करे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक दर्शन–संप्रदाय के सृष्टि–विषयक सिद्धान्त का अनुगमन तथा अनुसरण ही उसके समस्त चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है।

जगत् का विश्लेषण करके इसके मूलकारण के अस्तित्व और स्वरूप का निर्धारण दर्शन सम्प्रदायों की सामान्य प्रक्रिया है। कुछ दर्शन इस प्रक्रिया से द्वैत के निष्कर्ष तक पहुँचते हैं तो कुछ अद्वैत के, जिसे दूसरे शब्दों में चेतन–अचेतन का द्वैत और चिन्मात्र रूप अद्वैत कहा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन[१] के आचार्य इसी प्रक्रिया से चेतन तत्त्व की सत्ता का निष्कर्ष निकालते हैं और उसे ईश्वर या शिव का अभिधान देते हुए अद्वैतवाद की प्रस्थापना करते हैं। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि ईश्वर जैसे तत्त्व की सर्वप्रथम आवश्यकता सृष्टि के प्रादुर्भाव के प्रसङ्ग में ही है। बिना ईश्वर के यदि सृजन संभव है तो फिर आगे के सोपानों में उसकी वैसी अनिवार्यता नहीं रह जाती। अत: ईश्वरवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में ईश्वर के स्वरूप और उसकी महत्ता पर विचार के लिए सर्वप्रथम सृष्टि के प्रादुर्भाव के प्रसङ्ग में उसकी भूमिका का मूल्यांकन आवश्यक है। शैवाचार्य तो इससे आगे बढ़ते हुए सप्रमाण यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि न केवल सृष्टि अपितु स्थिति व संहार आदि के लिये भी ईश्वर अपरिहार्य है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में पारमार्थिक तत्त्व शिव अथवा ईश्वर है[२]। यह चिन्मात्र नहीं, चेतन है[३]। चैतन्य इसका अविच्छिन्न स्वभाव है। इसी चैतन्य को संवित्, चिति[४], स्फुरत्ता[५], सार, शक्ति, स्वातंत्र्य[६] अथवा उस ईश्वर का ऐश्वर्य कहा जाता है। वह सत् अथवा अस्ति मात्र नहीं है अपितु उसमें अपने अस्तित्व के प्रकाशन की क्षमता भी विद्यमान है। अत: अस्ति–अस्तिता (भाति) अथवा प्रकाश–विमर्श[७] ये दो भिन्न–भिन्न तत्त्व न होकर दोनों का नित्य सामरस्य[८] है। पूर्ण सामरस्य और समन्वय का यही सिद्धान्त अद्वयवाद है। यह अद्वयतत्त्व सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रहरूप पाँच कृत्यों को निरन्तर करता रहता है[९]।

शक्ति से यहाँ तात्पर्य है पाँच प्रमुख शक्तियाँ– चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया[१०]। स्वातंत्र्य का अर्थ है कि ईश्वर इन शक्तियों के संकोच और विकास में पूर्णतः आत्मनिर्भर है, किसी भी प्रकार से किसी अन्य तत्त्व के अधीन नहीं है[११]। शक्तिमान् और स्वतंत्र ईश्वर इसी ऐश्वर्य की सामर्थ्य से अपने में पूर्वतः विद्यमान् जगत् का अपने द्वारा, अपने में ही विस्फार करता है[१२]। अतः जगत् और कुछ नहीं शिव की शक्ति का अथवा शिव का ही विस्फार है। इस लोक का वैविध्य उसके स्वातंत्र्य के विविध आख्यान हैं।

सत्य और चेतन शिव का आभास होने के कारण जगत् भी सत्य और चेतन है[१३]। ईश्वर और जगत् में स्वरूपगत पारमार्थिक भेद नहीं है किन्तु व्यावहारिक स्तर पर भेद है। ईश्वर पूर्णतः स्वतंत्र है जबकि जगत् का स्वातंत्र्य संकुचित है। जगत् अपने प्रादुर्भाव और तिरोभाव के लिए शिव के अधीन है किन्तु शिव किसी भी दृष्टि से जगत् के अधीन नहीं है। यही इस दर्शन का आभासवाद तथा अभेद में भेद और भेद में अभेद दृष्टि का सिद्धान्त है। शिव तथा उससे (स्वेच्छया, स्वात्मभित्ति पर) आभासित जगत् के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए इस दर्शन के दार्शनिक अग्नि–विस्फुलिंग[१५], जल–वीचि[१६], बीजांकुर[१७], चन्द्र–तत्प्रतिबिंब[१८], दर्पण–नगर, स्वप्न, नट, योगी[१९] आदि के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक लोक में दिखाई देने वाली चेतन–अचेतन के भेद की समस्या है– उसका समाधान शैवाचार्यों ने बड़ी कुशलता से किया है। तदनुसार चेतन और अचेतन का भेद अवास्तविक है[२०] क्योंकि चेतन के बिना अचेतन की सत्ता ही नहीं हो सकती[२१]। सम्पूर्ण जगत् चेतन ही है किन्तु जिस जागतिक तत्त्व में चैतन्य अधिक जागृत है, अभिव्यक्त है उसे चेतन कह दिया जाता है तथा जिसमें चेतन अत्यन्त अनभिव्यक्त, संकुचित और पूर्णतः अप्रकाशित है उसे अचेतन कह दिया जाता है। इस मान्यता के अनुसार पशु, पक्षी, मनुष्य आदि अथवा (तथा) उसका आत्म–तत्त्व तो चेतन है ही किन्तु अचेतन कहे जाने वाले पाषाण आदि भी चेतन ही हैं। पाषाण आदि में चैतन्य संकुचित है और मनुष्य आदि में उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। स्वरूप में संकोच और विकास का अर्थ वस्तु का स्वरूपगत भेद नहीं है, उसका सर्वथा भिन्न–भिन्न होना नहीं है और चेतन, शिव से अभिन्न है। इसी विचार–प्रक्रिया से यह सूत्र प्रादुर्भूत हुआ कि जो सत् है वह चेतन है और जो अचेतन है वह असत् है। चेतन में चेतन के रहने और चेतन से चेतन के प्रादुर्भाव से चेतन में क्षोभ अथवा विकार की समस्या निःशेष हो जाती है[२२]।

जगत्स्रष्टा ईश्वर के अस्तित्व एवं उपर्युक्त स्वरूप के विषय में शैवाचार्यों ने जो केन्द्रीय तर्क प्रस्तुत किये हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं–

१. कार्यरूप जगत् और इसके पदार्थ–विशेष सन्निवेश वाले हैं। कार्य के स्वरूप में इस सन्निवेश के आविर्भाव के लिए अचेतन उपादान और सहकारी कारण उत्तरदायी नहीं

हो सकते क्योंकि अचेतन बुद्धिमान नहीं है। अत: कार्य का निमित्तकारण बुद्धिमान् होना आवश्यक है जो अपने कौशल से सन्निवेश–विशेष के रूप में कार्य को अभिव्यक्ति दे सके[२३]।

यहाँ बुद्धिमान् को प्रत्येक कार्य का सामान्यत: निमित्त कारण माना गया है केवल घटादि कार्य के अंतर्गत कुंभकार आदि के प्रसङ्ग–विशेष में ही नहीं[२४]। जैसे धूम–अग्नि के सामान्य सम्बन्ध को जानने से खदिरवृक्ष की विशेष अग्नि और विशेष धूम के सम्बन्ध का बोध हो जाता है[२५] उसी प्रकार सामान्य बुद्धिमान् के निमित्त कारण के ज्ञान से संसार के समस्त प्रसङ्गों में बुद्धिमान चेतन के, चाहे वह मृत्तिका के प्रसङ्ग में कुंभकार हो या शरीरादि के प्रसङ्ग में ईश्वर हो, सभी निमित्त कारणों का बोध हो जाता है।

२. कार्य की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति के लिये तीन कारणों की चर्चा मुख्यत: होती है; उपादान कारण, सहकारीकारण और निमित्तकारण। शैवाचार्यों के मत में प्रथम दो की भूमिका गौण और अन्तिम कारण की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कार्य अचेतन उपादान और सहकारी का अनियत, अव्यवस्थित संग्रह मात्र नहीं है। कार्य का विशेष सन्निवेश निमित्तकारण में कार्य की इच्छा, तदनुकूल उपादान और सहकारी कारणों का चयन और संयोजन तथा कार्य की विशिष्ट अर्थक्रिया का द्योतक है। उपादान एवं सहकारी कारणों का अचतेन होना और निमित्त कारण का चेतन होना सहज ही निमित्तकारण के प्रामुख्य की सिद्धि करता है। सहकारी कारणों की प्रेरणा से उपादान कारण में क्रिया भले ही उत्पन्न मानी जाए किन्तु अचेतन सहकारी कारणों में भी क्रिया स्वयमेव नहीं हो सकती। इसके लिये चेतन निमित्तकारण मानना आवश्यक है।

यहाँ पवन की प्रेरणा से अग्नि के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उक्त मत पर आपत्ति उठाई जा सकती है। किन्तु उत्तर पक्ष का उत्तर यह है कि प्रथमत: तो बिना निमित्तकारण के मात्र सहकारी कारण से उपादान कारण में क्रियोत्पत्ति संभव नहीं है और यदि किसी उदाहरण में ऐसा प्रतीत होता है तो भी वहाँ निमित्तकारण को ही क्रिया का प्रेरक मानना होगा। क्योंकि जगत् या घटादि का निर्माण नियमानुसार एक व्यवस्थित क्रिया है और यह व्यवस्था तथा नियम अचेतन का स्वभाव नहीं हो सकता[२६]।

३. जगत् में वैविध्य दिखाई देता है[२७]। इस वैविध्य का कारण अचेतन उपादान या सहकारी कारण नहीं[२८] हो सकता। बुद्धिमान् निमित्तकारण की यह इच्छा, ज्ञान,[२९] और स्वातंत्र्य की शक्ति है कि वह किस उपादान व सहकारी कारण का कैसे, कितना उपयोग करे, कैसे उनका संयोजन करे और अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप कैसे किस कार्य को अभिव्यक्ति दे।

४. कार्य की इच्छा, ज्ञान व क्रिया का एक ही तत्त्व में सामानाधिकरण्य मानना आवश्यक है, अन्यथा अनेक असंगतियाँ उत्पन्न होंगी[३०]।

जड़कारणवाद का खण्डन

सृष्टि के प्रादुर्भाव के प्रसंग में यद्यपि सांख्य दर्शन पुरुष की आंशिक भूमिका स्वीकार करता है[३१] किन्तु जहाँ तक विकृतियों के विश्लेषण से उनके मूल कारण के अनुसंधान का प्रश्न है उसका मुख्य निष्कर्ष अचेतन प्रकृति ही है। प्रकृति ही विकृतियों के रूप में परिणत होती है और अन्त में विकृतियाँ उसी में लीन होती हैं। सत्कार्यवाद का सिद्धांत पुरुष को नहीं, प्रकृति को ही लक्ष्य करके प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार परमाणुवाद निमित्तकारण के रूप में यद्यपि ईश्वर की चर्चा करता है[३२] किन्तु उसकी भूमिका अत्यंत गौण है तथा जगत् का वास्तविक उपादान कारण व लय–स्थान परमाणु ही माने गये हैं। इस प्रकार प्रमाता की दृष्टि से प्रकृति और परमाणु दोनों प्रमेय[३३] और जड़ हैं। अत: शैवाचार्य[३४] इन मतों को जडकारणवाद की श्रेणी में रखकर इनकी आलोचना करते हैं[३५]।

जडकारणवाद के विरुद्ध शैवों के प्रमुख तर्क ये हैं–

१. जड़ पदार्थ सृष्टि का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार की इच्छा अपेक्षा, ज्ञान व क्रिया आदि संभव नहीं है[३६]।

२. अचेतन कारण में सर्वप्रथम क्रिया का प्रादुर्भाव क्यों और कैसे हुआ?

३. अचेतन को स्वाभाविक रूप से यदि क्रियाशील माना जाए जैसा कि सांख्य रजोगुण के कारण प्रकृति को सक्रिय मानता है तो फिर किसी भी स्तर पर उसकी क्रिया निरुद्ध नहीं होगी और सृष्टि का विलय सम्भव नहीं होगा। प्रादुर्भाव और विलय दो भिन्न–भिन्न स्वभाव हैं जो अचेतन के नहीं हो सकते क्योंकि अचेतन कूटस्थ होता है[३७]। स्वभाव का वैचित्र्य चेतन का ही वैशिष्ट्य है। बद्ध और मुक्त के लिए एक ही समय में प्रकृति कैसे विकृतियों की उत्पत्ति व निरोध करेगी? देह में जब तक चेतन है, मुक्त पुरुष के लिए भी विकृतियों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी[३८]।

४. लोक में वैचित्र्य का प्रत्यक्ष पदे–पदे होता है। इस वैचित्र्य की सुसंगत व्याख्या जड़कारणवाद में नहीं है। जड़ सदा एक–सी सृष्टि उत्पन्न करे यह तर्करक्षा के लिए मान भी लिया जाए किन्तु एक ही जड़ में सांसारिक वैचित्र्य को उत्पन्न करने की क्षमता कैसे सम्भव है? गुण–वैषम्य को यदि वैचित्र्य का कारण माना जाता है तो इस गुणवैषम्य का पुन: क्या कारण है? परमाणुओं के संयोजन में वैचित्र्य का आधान कौन करता है? अचेतन उपादान कारण मात्र कार्यों में वैचित्र्य का उत्तरदायी नहीं हो सकता।

५. सृष्टि के प्रादुर्भाव का प्रसंग हो अथवा मृत्तिका में घटनिर्माण का प्रसंग–कार्योत्पत्ति के ये समस्त प्रसंग, प्रयोजन की अपेक्षा रखते हैं। जडकारणवाद में प्रयोजन की सुसंगत व्याख्या

नहीं मिलती। अचेतन होने से उसका स्वयं का कोई प्रयोजन नहीं है और न ही उसमें किसी दूसरे के उपकार की कोई आकांक्षा संभव है। ''कार्यविशेष से प्रयोजन–विशेष की सिद्धि होगी अत: उस सिद्धि के अनुकूल उपादान व सहकारी कारणों का हानोपादान करूँ'' ऐसी इच्छा और बुद्धि अचेतन में सम्भव नहीं है[३९]। पुरुष के लिए प्रकृति विकृतियाँ उत्पन्न करती है[४०] ऐसा मानें तो भी प्रकृति में पुरुषार्थ को यदि उपचार मात्र माना जाए तब भी मूल समस्या हल नहीं होती है।

६. उपादानकारण के रूप में जड़ प्रकृति अथवा परमाणु को कारण मानने के बावजूद यदि कार्योत्पत्ति में चेतन अपरिहार्य है[४१], चाहे प्रकृति में प्रयोजन का आधान करने के लिए हो[४२] अथवा परमाणुओं को सक्रिय करने वाले निमित्तकारण के रूप में हो– जैसे घट के प्रसङ्ग में कुंभकार को माना जाता है– तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि बिना चेतन के जड़ से सृष्टि नहीं हो सकती।[४३] अत: जब चेतन को कारण मानना ही आवश्यक है और ईश्वर को निमित्त कारण के रूप में ही स्वीकार करना आवश्यक है तो क्यों न कार्य का पूर्ण उत्तरदायी मानकर उसे वास्तविक गौरव प्रदान किया जाए? चेतन तत्त्व को मानकर भी उसे अपूर्णरूप में मानना अथवा अचेतन उपादान व सहकारी कारणों के अधीन मानना उसके ऐवश्र्य को सीमित करना है, उसकी सर्वज्ञता, सर्वक्रियता पर संदेह है, सिद्धांत की असंगति है। चेतन और अचेतन का भेद स्वतन्त्रता और परतंत्रता का है। चेतन यदि अचेतन के अधीन है तो वह परतंत्र है और परतंत्र तत्त्व ईश्वर नहीं हो सकता।

चिन्मात्रकारणवाद का खण्डन

शांकर मत भी जड को जगत् का कारण नहीं मानता। जड़ की कारणता में शङ्कर ने अधिकांश असंगतियाँ वे ही मानी हैं जिन्हें शैवमत मानता है। जड़–कारणवाद का तिरस्कार करके शङ्कर अजड को उपादान और निमित्त कारण मानते हैं, यह पक्ष भी शैवमत के अनुकूल है। चिद्कारण और जगत् में भेद और अभेद दोनों हैं यह निष्कर्ष भी दोनों मतों में सामान्य है। किन्तु शङ्कर जहाँ उपादान कारण की दृष्टि से अभेद और निमित्त कारण की दृष्टि से भेद मानते हैं वहीं शैवों का कहना है कि यहाँ संकोच और पूर्णता का भेद है तथा स्वरूपगत अभेद है।

शाङ्कर और शैव मतों में जगत् का कारण ईश्वर है किन्तु उसकी व्याख्या में भेद है। शंकर का ईश्वर मायाधिष्ठित ब्रह्म है और शैवों का ईश्वर शुद्धाध्वा का एक तत्त्व। ब्रह्म–ईश्वर तथा शिव–ईश्वर में दोनों मत अभेद भी मानते हैं। किन्तु इस अभेद की व्याख्या में पुन: भेद है। माया को परे हटाकर शंकर ब्रह्म–ईश्वर में अभेद मानते हैं जबकि शैव ईश्वर–शिव में संकोच–पूर्णता के भेद को अवास्तविक मानकर अभेद मानते हैं।

दोनों ही मत कार्य अथवा प्रवृत्ति से पूर्व इच्छा अथवा संकल्प को स्वीकार करते हैं। किन्तु शंकर इस इच्छा को मायाधिष्ठित ब्रह्म में और शैव परमार्थ तत्त्व शिव (ईश्वर) में मानते हैं। शंकर इच्छादि से ब्रह्म के स्वरूप में विकृति की आशंका करते हैं जबकि शैव अपनी अद्वयवादी विशिष्ट व्याख्या से इच्छादि को स्वभाव मानकर उनके शुद्धत्व का निर्वाह करते हैं। दोनों ही मत कार्य अथवा प्रवृत्ति से पूर्व इच्छा अथवा संकल्प को स्वीकार करते हैं किन्तु शङ्कर इस इच्छा का अधिष्ठान मायाधिष्ठित ब्रह्म को और शैवाचार्य परमार्थ तत्त्व शिव (ईश्वर) को मानते हैं। शङ्कर इच्छादि से ब्रह्म के स्वरूप में विकृति की आशंका करते हैं जबकि शैव अपनी अद्वयवादी विशिष्ट व्याख्या से इच्छादि को उसका अविच्छिन्न स्वभाव मानकर उसके शुद्धत्व का निर्वाह करते हैं। ब्रह्म में इच्छा, क्रिया आदि का अभाव स्वीकार करते हुए शंकर स्पष्ट रूप से ब्रह्म को स्रष्टा नहीं कहते हैं किन्तु शैवाचार्य इच्छादि को ईश्वर का ऐश्वर्य कहते हुए उसे स्रष्टा सिद्ध करते हैं।

अजड़कारणवाद में भी सृष्टि के प्रयोजन का प्रसंग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। शंकर मतानुसार सृष्टि के प्रादुर्भाव में ब्रह्मा का कोई सूक्ष्म प्रयोजन नहीं है क्योंकि वह पूर्ण है, निष्काम है। फिर भी लौकिक दृष्टि से लीलामात्र को उसका प्रयोजन कहा जा सकता है। शैवाचार्य इस प्रसंग में क्रीडा शब्द का प्रयोग करते हुए यह टिप्पणी करते हैं कि लीला अथवा क्रीड़ा की जैसी सुसंगत व्याख्या स्वातंत्र्यवाद में संभव है, वैसी ब्रह्मवाद में नहीं।

निष्कर्ष:– जगत् के विश्लेषण के द्वारा मूल कारण के अनुसंधान की प्रक्रिया निःसंदेह युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है किन्तु जगत् के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण भी इसी से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। किस दर्शन–सम्प्रदाय की सृष्टि पदार्थ को किस रूप में देखती है और पदार्थ के स्वरूप के निश्चय के लिये किस प्रमाण–प्रक्रिया को स्वीकार करती है इस पर भी उसकी तत्त्वमीमांसा और मूलतत्त्व का स्वरूप निर्भर करता है। जडकारणवादी दर्शन जगत् को सत्य मानते हैं और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसे ग्राह्य मानते हैं। अतः वे तदनुरूप मूलकारण को जड उपादान के रूप में देखें– यह स्वाभाविक है। जडकारणवाद अपनी ओर से पर्याप्त प्रयास करता है कि उसकी अधिक से अधिक मान्यताएँ– व्याख्याएँ यथासंभव चेतन–निरपेक्ष हों किन्तु यह कठोर सत्य है कि उसके समस्त प्रयासों के बावजूद वह चेतन की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर पाता और किसी न किसी रूप में चेतन को स्थान देने के लिये बाध्य हो जाता है। सांख्य–न्यायादि दर्शनों के लिये श्रुति–समर्थन प्राप्त करना एक समस्या बन गया और श्रुतियों द्वारा उद्घोषित चेतन तत्त्व की स्वानुकूल व्याख्याएँ करके उन्हें उसका सामञ्जस्य करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इसलिये चेतन तत्त्व को पूर्ण गौरव के साथ स्वीकार न करने वाले दर्शनों को जड़कारणवादी घोषित करना सर्वथा उचित है। जड को कारण के रूप में गौरव प्रदान करने वाले दर्शन यदि जड की सीमाओं और असमर्थताओं के कारण

आलोचनाओं से घिरें अथवा जड–अजड के सम्बन्ध को उनकी अस्पष्ट व्याख्याओं पर असंगतियाँ आक्रमण करें तो यह भी स्वाभाविक ही है। जड का कर्तृत्व लोकानुभव के विपरीत है, इस तथ्य को रहस्यमयी व्याख्याओं से झुठलाया नहीं जा सकता।

अनादिकाल से अगणित प्रमाताओं के अनुभव का विषय बनने वाले जगत् को सत्य मानने का जडवाद का संकल्प स्तुत्य है, युक्तियुक्त है, सर्व प्रमाणसिद्ध है। किन्तु इसी जगत् की अस्पष्ट, रहस्यवादी और विलक्षण व्याख्याओं को प्रस्तुत करके तथा पारमार्थिक स्तर पर इसकी घोर उपेक्षा करके चिद्कारणवाद उसी दोष की पुनरावृत्ति करता है जो दोष जडकारणवाद में है। जडकारणवाद चैतन्य की उपेक्षा का दोषी है तो चिद्कारणवाद अचित् की उपेक्षा का। जडकारणवाद ने चैतन्य की उपेक्षा की किन्तु चिद्कारण ने उसे अपूर्ण रूप में स्वीकार करके, उसे जडतुल्य बना दिया। इसलिये पूर्णत्व का गौरव उसे दोनों ही पक्षों से नहीं मिला। प्रत्यभिज्ञादर्शन चेतन को पूर्णता का गौरव प्रदान करता है, उसकी सुसंगत व्याख्या करता है और उसे लोकानुभूतियों से प्रमाणित करता है। अतः इस दर्शन के ईश्वरवाद पर अचेतन की उपेक्षा, चेतन–अचेतन के अतार्किक सम्बन्ध और अस्पष्ट–असंगत व्याख्याओं के वैसे आरोप नहीं लगाये जा सकते जैसे जडकारणवाद और चिद्कारणवाद पर लगाये जाते रहे हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन का ईश्वर मात्र स्रष्टा नहीं है अपितु अपने स्वातंत्र्यपूर्ण पञ्चविधकृत्यों के कारण सृष्टि का नियन्ता और संहारकर्त्ता भी है। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि सृष्टि–प्रक्रिया का अंतिम सोपान संहार नहीं, निग्रह है जिसके बिना सृष्टि के पुनः प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग मुमुक्षुओं को सदैव भयभीय करता रहेगा। अनुग्रह का सम्बन्ध निश्चय ही सृष्टि प्रक्रिया से न होकर स्वात्मबोध से है। किन्तु एक विचार–प्रक्रिया यह भी है कि अनुग्रह ही वह कृत्य है जो चेतन के चैतन्य को सार्थक करते हुए उसे तथाकथित अचेतन से भिन्न सिद्ध करता है। क्लिष्ट और कुटिल तर्कों के बल पर सृष्टि आदि कृत्यों का श्रेय जड तत्त्व को भले ही दे दिया जाए किन्तु अनुग्रह का वैशिष्ट्य एक मात्र चेतन तत्त्व में है, और इस पर उसी का एकाधिकार है। क्रियादि शक्तियों से सम्पन्न ईश्वर में जहाँ अनुग्रह संभव और सार्थक है वहीं जडतुल्य निष्क्रिय चिद् में असंभव और अर्थहीन है।

सन्दर्भ-

१. द्रष्टव्य– व्यास, सू.प्र.: **बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन**, पृ. ८

२. यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पारमार्थिक तत्त्व के लिये शिव शब्द का व्यवहार हुआ है और शिव से प्रादुर्भूत शुद्धाध्वा (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या) में ईश्वर एक तत्त्व है तथापि अन्य दर्शनों से तुलना में सौविध्य की दृष्टि से इस लेख में ईश्वर शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा दर्शन के पारमार्थिक तत्त्व शिव के अर्थ में किया गया है।

३.　द्रष्टव्य परमार्थसार, कारिका १,१०,११.

४.(अ)　चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, १.५.१३

(ब)　चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र, १

५.　ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्ताम्। रहस्यपञ्चदशिका ४,८

६.　स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः। ईप्रका, १.५.१३

७. (अ)　प्रकाशो हि विमर्शसारः विमर्शोऽपि प्रकाशसारः। भास्करी, १.१.३

(ब)　प्रकाशश्च विमर्शं विनाऽसत्कल्प एव। वही, १.१.१

(स)　प्रकाशमान् न पृथक् प्रकाशात्।
स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात्।। विभैवि, १३७.

(ड)　प्रकाशमानता हि प्रकाशाभेदः। शिदृवृ, ४.७

(य)　स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः। ईप्रका, १.८.११

(र)　विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिममहमिति स्फुरणम्।
पराप्रवेशिका, पृ. २

(ल)　विमर्शो हि सर्वं सहः परमपि आत्मीकरोति आत्मानं च परी करोति उभयमेकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवंस्वभावः। ईप्रवि. १.८.११
और भी द्रष्टव्य, ईप्रविवि पृ. ६; विभैवि (शिवोपाध्याय) १३७, पृ. १२२; पराप्रवेशिका, पृ. १; शिवदृष्टिवृत्ति, २.१९.

८.　द्रष्टव्य शिदृ, ३.२.३; ईप्रवि, १.६.७; महार्थ मंजरी १.२८।

९.　द्रष्टव्य, र.पं. ७.१५; प्रह, मंगलाचरण ४, सूत्र १०.५५; सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत योगराजकारिका; मम, पृ. ५३।

१०.(अ)　तत्र परमेश्वरः पञ्चभिः शक्तिभिः निर्भरः। तंत्रसार, आ.८, पृ. ७३।

(ब)　प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। वही, पृ. ६।

(स)　स्वातंत्र्यम् आनंदशक्तिः। वही

(द)　तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। वही; परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा। ईप्रवि २, पृ. १८१.

(य)　आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। तंत्रसार, पृ. ६; परतस्तस्मिन् विश्वलक्षेण कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञानशक्तिः। शिदृवृ, पृ. १८।

(र)　सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। तंत्रसार, पृ. ६;
भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।
यथा विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते। मालिनीविजयवार्तिक १.९०।

११.　द्रष्टव्य— ईप्रवि, १.१.२, १.८.११; तंत्रा १.६७—६८।

१२.　द्रष्टव्य— शिदृ १.१; परमार्थसार, पृ. ९२, ९६; स्त. चि. ५; प्रहसु, २; ईप्रविवि, पृ. ५, शिदृवृ, २.९।

१३.　द्रष्टव्य— शिदृवृ, १.२; ईप्रवि, १.१.१; भा १, मंगलाचरण; पसा, २५ पसावि, ५.४१,७७; प्रहसूवृ, ३.

१४. यच्च जगतस्तुच्छता कथ्यते तज्जगत्वापेक्षामात्रेण, परमार्थतस्तु सारात्प्रादुर्भूतत्त्वेन तदपि सार एव। भा. १.५.१४, और भी द्रष्टव्य– शिदृद्, १.२; प्रह, पृ. २९.

१५,१६. द्रष्टव्य– तंत्रालोक, भाग ३, आ ४, १८४; शिदृ, ३.३७.१८; शिदृवृ. पृ. ११३।

१७. द्रष्टव्य– परात्रिंशिका, २४,२५.

१८. द्रष्टव्य– पसा, ७–८.

१९.(अ) वही, ६,९; प्रह, पृ. ३६, पसावि, पृ. ९९–१०० (१९ब. १९क पसा, पृ. ३–४, शिवसूत्र,३.९. तंत्रा. ३.४)।

(ड) द्रष्टव्य, ईप्रका, २.४.१०, ईप्रवि, २.४.१०.

२०. चेतनाचेतनानामपि स्वात्मनि निर्विशेषत्वम्। अप्रसि, १;
और भी द्र. भा. १.१.३; २.४.१९.

२१. जड़स्य सत्तैव कथं चिद्व्यक्तिं विना सिद्धा। स्फुरद्रूपता हि सत्ता, स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता। शिदृवृ, ४.७।

२२. उपनिषद् (ईशा शान्तिपाठ) से तुलनीय–
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

२३. द्रष्टव्य– ईसि, पृ. १.

२४. वही, पृ. ५ और कारिका, ८.

२५. वही, पृ. ५ और कारिका, ११.

२६. वही, पृ. २.

२७. वही, पृ. १०.

२८. वही, पृ. १० और कारिका, १५–१७.

२९. वही, पृ. ४.

३०. वही, पृ. ७.

३१. द्रष्टव्य, सांका, २०.

३२. शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ; **Critique of Indian Realism, p. 234.**

३३. द्रष्टव्य– ईप्रवि, २.४.१९.

३४. जडकारणवाद के खण्डन तथा ईश्वरवाद की स्थापना के प्रसंग में आचार्य उत्पल का विशिष्ट योगदान है। अपने अन्य ग्रंथों में इस विषय का विवेचन करने के अतिरिक्त इन्होंने केवल इसी उद्देश्य से अजडप्रमातृसिद्धि और ईश्वरसिद्धि नामक स्वतंत्र कारिका ग्रंथ लिखे (जो सम्बन्धसिद्धि के साथ'सिद्धित्रयी के रूप' में प्रकाशित है)।

३५. उपादानकारणतया परमाणुस्थान एव प्रधानस्य मूलकारणत्वेन समर्थनात्। ईसि, पृ. १२.

३६. इह अपेक्षाशून्यत्वात् जडानां कार्यकारणभावो न भवेत्। तंत्रावि, ९.१३.

३७. द्रष्टव्य– ईप्रविवि, १. पृ. ९.

३८. द्रष्टव्य– ईसि, पृ. २६.

३९. द्रष्टव्य– शिदृवृ, ४.४२–४३.

४०. द्रष्टव्य– ईसि, २१, कारिका, २५, २८.

४१. द्रष्टव्य– शिदृवृ, ४.४२–४३.

४२. द्रष्टव्य– शास्त्री, उदयवीर; **सांख्यसिद्धान्त**, पृ. १८६.

काश्मीर शिवाद्वयवाद में सम्बन्ध की अवधारणा

सम्बन्ध की समस्या व्यापक, गहन और क्लिष्ट है। इस समस्या का सम्बन्ध तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा दोनों से है। भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों में मुख्यत: न्याय-वैशेषिक, वेदान्त व बौद्ध के आचार्यों ने इस पर गहन चिन्तन किया है। काश्मीर शिवाद्वयवाद का मत इन सबसे विलक्षण है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में सम्बन्ध-सिद्धान्त का जिस प्रकार विश्लेषण और विवेचन मिलता है तथा जिस तरह दार्शनिकों में तर्क और प्रमाणों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ है उससे इस समस्या के स्वरूप के सन्दर्भ में कुछ सामान्य बिन्दु उभरते हैं जैसे सम्बन्ध का शब्दार्थ एवं स्वरूप, इसकी सत्यता एवं नित्यता, इसका तत्त्वमीमांसा में स्थान, इसका ज्ञान एवं अनुभव, इसके प्रकार आदि।

सन्दर्भ-

काश्मीर शिवाद्वयवाद के आचार्यों में राजानक उत्पलाचार्य ने सम्बन्ध की विवेचना को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने इस समस्या पर ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (ईप्रका) में आनुषंगिकरूप से तथा सम्बन्धसिद्धि (संसि) नामक लघु पुस्तिका (की २३ कारिकाओं) में स्वतंत्ररूप से विवेचन किया है। ईप्रका पर विमर्शिनी एवं उस पर भास्करी टीकाओं में क्रमश: आचार्य अभिनवगुप्त एवं भास्कर ने भी विषय को विस्तार दिया है। इनके अतिरिक्त तंत्रालोक, महार्थमंजरी, परमार्थसारविवृति आदि में भी सम्बन्ध का उल्लेख प्राप्त होता है।

शब्दार्थ-

सम्बन्ध शब्द के अर्थ पर विचार के क्रम में आचार्य उत्पल इसके पर्यायों में संसर्ग, सम्पर्क, संश्लेष आदि का उल्लेख करते हैं। किन्तु साथ ही वे ऐसा नहीं मानते कि इन पर्यायों से वह गूढ़ भाव प्रकट हो जाता है जो सम्बन्ध की अवधारणा में निहित है। वे कहते हैं कि सम्बन्ध शब्द में दो स्वतंत्र भाव पदार्थों के साथ-साथ रहने एवं एक में रहने का भाव निहित है। यह सहवृत्तित्व अथवा समानवृत्तित्व तभी संभव है जब वे दो सम्बन्धी अपने-अपने पूर्व स्थान को छोड़कर अन्य समान स्थान में रहें अथवा उनका सामानाधिकरण्य हो–

> ''संशब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना
> च देशान्तरपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन...।''
>
> (सित्र,पृ० ६२)।

स्वरूप-

(अ) सहवृत्तित्व और सामानाधिकरण्य के इसी अर्थ की पृष्ठभूमि में, शैवाचार्य, सम्बन्ध का लक्षण भेदाभेद अथवा अनेकता में एकता करते हैं। केवल एकता अथवा केवल अनेकता नहीं बल्कि दोनों ही अवस्थाएँ सम्बन्ध की सिद्धि के लिए आवश्यक हैं–

"न त्वनैकतैव नापि एकतैव अपि तु
उभयावस्थापेक्षोऽयमर्थः सम्बन्धः।"

(वही,पृ० ६१)।

यह भेदाभेद शिव से अभिन्न क्रिया–शक्ति का ही विस्फार है। इस नियम के अन्तर्गत न केवल सम्बन्ध अपितु क्रिया, जाति, दिक्, काल आदि बुद्धियाँ भी आभासित होती हैं।

(आ) एकता आन्तरिक सत्य है और अनेकता बाह्य सत्य। एकता प्रमाता में अनुभव के रूप में विद्यमान है जब कि अनेकता देश–काल और विषय-स्वभाव से सम्बद्ध होकर बाह्यरूप में आभासित होती है। शैव मतानुसार प्रमाता का यह स्वभाव है कि वह अनेक में एक और एक में अनेक की अनुभूति कर सकता है। भेदाभेदरूप में ज्ञान करना अथवा ज्ञान न करना दोनों ही व्यवहारों से प्रमाता की स्वतंत्रता सिद्ध होती है।

(इ) ज्ञान का प्रयोजन प्रमाता में पदार्थों की एकात्मकता का अनुभव कराना है। यही एकात्मकता लोकव्यवहार का आधार है। इसके बिना पदार्थों का प्रकाशन-व्यापार परस्पर असम्बद्धरूप में प्रकाशित होगा जो लोक-व्यवहार की दृष्टि से व्यर्थ होगा–

"एकात्मतापत्तिपर्यन्तोऽवभासनव्यापारोऽर्थेषु ज्ञानानां न
तु परस्परासंलग्नतया प्रकाशमात्रात् परिसमाप्यते।"

(ई) दो ज्ञानों में एकात्मता की इस अनुभूति (सम्बन्ध) में विशेषण का परामर्श अपने स्वरूप को विशेष्य परामर्श के स्वरूप में समर्पित कर देता है तथा साथ ही स्वतंत्र भी बना रहता है। जैसा कि राजपुरुष, नीलोत्पल आदि उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

(उ) शैव मतानुसार दो बाह्य पदार्थों की एकात्मता का परिमित प्रमाता में प्रकाशन होना इस (एकात्मता) प्रक्रिया की समाप्ति नहीं है। बल्कि अनन्त चिन्मय परम प्रमाता शिव में यह एकात्मता प्रतिक्षण विश्रान्त रहती है। क्योंकि परिमित प्रमाता तात्त्विक दृष्टि से शिव से अभिन्न है–

"न केवलं च सम्बन्ध मयैकतास्पर्शिपरिमितमाया–
प्रमातृपर्यवसायी वस्तुप्रकाशनव्यापारो, यावदनन्तचिन्मय–
शिवतावभासविश्रान्तैव प्रतिक्षणं वस्तुसंवित्क्रिया...।"

(सित्र,पृ० ७४)।

पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण शिव की इच्छा और क्रिया के फलस्वरूप ही पदार्थ नाना रूपों में प्रकाशित होते हैं तथा उसी परम शिव की ज्ञान–शक्ति के द्वारा वे प्रमाता में एकात्म रूप में अनुभूत होते हैं।

बाह्यरूप में जहाँ प्रमेय अनेक हैं वहाँ उनमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव है किन्तु परम शिव में पूर्णता और एकता (पूर्णैक्य) होने के कारण उस स्तर पर नानात्व नहीं है, बाह्यत्व नहीं है और इसीलिए उपकार्य-उपकारकभाव भी नहीं है। अर्थात् शैव दृष्टि सम्बन्ध के स्वरूप में उपकार्य-उपकारकभाव बाह्य स्तर पर मानती है किन्तु परम प्रमातृत्व के स्तर पर इसका सर्वथा निषेध करती है।

(ऊ) दो से अधिक वस्तुओं में सम्बन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर उन्हें दो वर्गों में विभाजित करते हुए उनमें एकात्मतारूप सम्बन्ध माना जाएगा–

''ततो बहूनां शतादिसंख्यानामपि प्रतियुगलमेवैकः
सम्बन्धः उद्घोष्यते।''

(सित्र, पृ० ६२)।

जैसे राजा का पुरुष, हस्ती, अश्व, रथ, पदाति आदि में राजा का पुरुष एक परामर्श विषय है तथा राजा का हस्ती दूसरा और इसी प्रकार अन्य परामर्श।

(ए) नैरन्तर्य सम्बन्ध नहीं– सम्बन्ध अथवा संश्लेष में नैरन्तर्य अथवा निकटतामात्र का भाव निहित नहीं है क्योंकि तब दूरस्थ पिता-पुत्र में वह नहीं होगा जबकि व्यवहार में इन दोनों में सम्बन्ध माना जाता है। इसी प्रकार निकटता को सम्बन्ध मानने पर निकटस्थ दो विभु द्रव्यों में तथा दो लौह शलाकाओं में वह माना जाएगा जबकि व्यवहारतः उनमें सम्बन्ध नहीं माना जाता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि शैव संयोग सम्बन्ध को नहीं मानता है।

नैरन्तर्य को सम्बन्ध मानने में एक समस्या यह है कि सान्तर सम्बन्ध क्यों नहीं है? इसकी समुचित व्याख्या नहीं मिलती। क्योंकि जो मत सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं वे सान्तर वस्तुओं में भी सम्बन्ध मानते हैं। अतः निरन्तरता को सम्बन्ध मानने में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के दोष हैं। (सित्र, पृ० ५९)।

न्यायमत का खण्डन

न्यायमतानुसार सम्बन्ध द्विष्ठ होता है अपने स्वरूप में स्थित भी रहता है तथा एक और नित्य होता है। इस मत पर आचार्य उत्पल की अनेक आपत्तियाँ हैं–

(अ) सम्बन्ध यदि द्विष्ठ है अर्थात् दो वस्तुओं में रहना मात्र सम्बन्ध का लक्षण है तो यह द्वित्व और द्विपृथक्त्व में भी घटित होगा जब कि इनमें सम्बन्ध नहीं माना जाता। अतः सम्बन्ध द्विष्ठता मात्र नहीं है।

(आ) पूर्वपक्ष का यह प्रस्ताव भी स्वीकार्य नहीं है कि दो पदार्थों में सम्बन्ध का सांकेतिक अर्थ तीसरे पदार्थ के रुप में माना जाए। जैसे 'तेल' और 'पायिका' दो भिन्न शब्दों में सम्बन्ध स्थापित होकर 'तैलपायिका' (लाल चींटी अथवा लकड़बघ्घा) जैसा नया अर्थ ध्वनित होता है। यहाँ आपत्ति यह है कि उदाहरण तो ठीक है किन्तु सम्बन्ध को द्विष्ठतारूप मानने से तीसरे पदार्थ की सत्ता ध्वनित या सिद्ध नहीं होती है (सित्र, पृ० ६०)।

(इ) अपेक्षा एवं पारतंत्र्य सम्बन्ध नहीं–

कार्य अपने प्रादुर्भाव के लिए कारण की अपेक्षा रखता है अथवा कारण पर निर्भर होता है। इसलिए कार्य-कारणभाव के सन्दर्भ में अपेक्षा या पारतंत्र्य सम्बन्ध है। इस मान्यता पर आपत्ति यह है कि (१) अचेतन कार्य एवं कारण में परस्पर अपेक्षाभाव सम्भव नहीं है। अपेक्षा चेतन का धर्म हो सकता है, अचेतन का नहीं। अचेतन में अपेक्षा का व्यवहार उपचार मात्र है। (२) सम्बन्ध में सहावस्थान का भाव है जबकि (बीजरूप) कारण और (अंकुररूप) कार्य का सहभाव नहीं है। (३) कारण और कार्य में वास्तविक एकता मान लेने पर उसमें द्विष्ठता का लक्षण घटित नहीं होगा। (४) कार्यकारणभाव एक प्रकार का सम्बन्ध माना जाता है किन्तु दो भाव पदार्थों (कार्य और कारण) को परस्पर भिन्न मानें या अभिन्न, किसी भी स्थिति में उनमें सम्बन्ध घटित नहीं होता है। (५) सम्बन्ध दो सम्बन्धियों से भिन्न तीसरी स्वतंत्र वस्तु है– ऐसा मत युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इससे अनवस्था दोष आता है तथा साथ ही एकात्मता का सिद्धान्त भंग होता है। सम्बन्ध को घटादि बाह्य पदार्थ की तरह तीसरी इकाई मानने पर घटादि की तरह उसका ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान होना आवश्यक है किन्तु ऐसा होता नहीं है।

''सम्बन्धः पुनः द्वयोर्विशेष्यैकता न त्वेवं
वस्त्वन्तरं प्रकाशते - इत्ययं विशेषः।''

(सित्र,पृ० ७५)।

(सम्बन्ध की) सत्यता

(अ) शिवाद्वयवाद में परम शिव पूर्ण सत्य है। साथ ही परम शिव की अभिन्न शक्ति के द्वारा भिन्न सा प्रतीत होने वाला यह जगत् भी सत्य ही है। किन्तु दोनों में भेद यह है कि उस पूर्ण शिव की अपेक्षा जगत् संकुचित किंवा अपूर्ण सत्य है। अत: तत्त्वमीमांसा की इस व्याख्या के अनुसार सम्बन्ध सत्य है।

(आ) शैवमत में सत्य की एक व्याख्या यह है कि जो वस्तु अपने अस्तित्व का प्रकाशन करे अथवा प्रमाता के अनुभव में जिस वस्तु का प्रकाशन हो वह सत्य है। क्योंकि शिव-शक्ति वास्तव में प्रकाशविमर्शमय अथवा आस्तिभातिमय है। प्रकाशन अथवा प्रकाशमानता वस्तु का अविच्छिन्न स्वभाव है।

सम्बन्ध स्वयं को प्रकाशित करता है अथवा वह प्रमाता के अनुभव में प्रकाशित होता है, इसलिए सत्य है।

(इ) सत्य के लक्षण की उपर्युक्त व्याख्या के सन्दर्भ में असत्य का अर्थ सत्य का अभाव, सत्य के सर्वथा विपरीत अथवा क्षणिक सत्य न होकर संकुचित अथवा अपूर्ण सत्य है और अपूर्ण सत्य, पूर्ण सत्य का सत्य आभास होने के कारण असत्य न होकर सत्य ही है। अत: सम्बन्ध भी सत्य है, असत्य नहीं।

(ई) सम्बन्ध को भ्रान्ति कहना भी उचित नहीं है। भ्रान्ति का एक उदाहरण स्वप्न या द्विचन्द्र की प्रतीति है। सम्बन्ध ऐसी भ्रान्ति नहीं है। किन्तु दूसरी ओर यदि भेदात्मक विश्व को ही भ्रान्ति कहना इसका वास्तविक तात्पर्य है तो सम्बन्ध भ्रान्ति है (सित्र, पृ० ७६)।

इस प्रकार काश्मीरीय शैव मत में सम्बन्ध न तो वन्ध्यापुत्र, शशविषाण आदि की तरह असत्य है और न ही स्वप्न, द्विचन्द्रादि की तरह भ्रान्ति है। अपितु यह व्यवहार में सर्वथा उपयोगी है। लोक व्यवहार का आधार है, अनुभव में प्रकाशित होता है तथा सत्य शिव का सत्य आभास है, इसलिए सत्य है।

सम्बन्ध की उक्त सत्यता की भाँति ही, प्रमाता की नित्यता की दृष्टि से इसकी नित्यता भी सिद्ध होती है।

सम्बन्ध के प्रकार

भेदाभेदरूप सम्बन्ध की अनेकता प्रमेयों में प्रकाशित होती है और एकता प्रमाता में। किन्तु प्रमाता और प्रमेय दोनों के नाना प्रकार हैं इसलिए सम्बन्ध भी अनेक प्रकार का हो सकता है। तथापि उत्पल ने व्यवस्था और स्पष्टता की दृष्टि से इसके आठ मुख्य प्रकारों का उल्लेख किया है–

(१) पितृपुत्रभाव (पिता-पुत्र में)
(२) स्वस्वामिभाव (राजा का पुरुष में)
(३) अवयवावयविभाव (वृक्ष की शाखा में)
(४) इतरेतरयोग (धव-खदिर में)
(५) विशेषणविशेष्यभाव (नील उत्पल में)
(६) क्रियाकारकभाव (देवदत्त लकड़ी से पतीली में ओदन पकाता है, में)
(७) अभावसम्बन्ध (घट-अभाव में)
(८) भेदरूप सम्बन्ध (यह इससे भिन्न है)।

यही नहीं, पुत्र से पिता, पुरुष से राजा आदि की तरह उपर्युक्त उदाहरणों में विपरीत

रूप में भी ये सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। अपेक्षा और अनुग्रह भी इस मत में सम्बन्ध के रूप हैं क्योंकि इस मत के अनुसार सम्बन्ध में मुख्य भूमिका बाह्य अचेतन पदार्थों की नहीं, चेतन प्रमाता की है तथा अपेक्षा और अनुग्रह चेतन प्रमाता में सहज संभव है। न्याय-सम्मत संयोग और समवाय का इन प्रकारों में उल्लेख न करने से स्पष्ट है कि शैवाचार्य इनसे सहमत नहीं हैं अथवा सम्बन्ध को इन प्रकारों में विभाजित करने से सहमत नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि ये दोनों प्रकार अचेतन तक सीमित हैं जबकि शैव का सम्बन्ध चेतन–केन्द्रित है। जहाँ तक कार्यकारणभाव का सम्बन्ध है शैवाचार्य इसे कर्तृकर्मभाव के रूप में स्वीकार करते हैं। अत: इस मत में प्रत्येक कार्य कर्म है जिसमें परम शिव का ही प्रधान कर्तृत्व है। कर्म कर्ता की ही क्रिया–शक्ति का विस्फार होने से उससे अभिन्न और सत्य है। अत: इस पृष्ठभूमि में कर्तृकर्मभाव भी भेदाभेद का एक आभास है।

धर्मकीर्ति की सम्बन्धविषयक मान्यता

बौद्ध आचार्यों में धर्मकीर्ति (७वीं शती) ने सम्बन्धविवेचन को उतना ही महत्त्व दिया है जितना शैवाचार्यों में उत्पल ने धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (प्र.) तृतीय परिच्छेद में आनुषङ्गिकरूप से तथा 'सम्बन्धपरीक्षा (सप) नामक लघु पुस्तिका में स्वतंत्ररूप से सम्बन्धसिद्धान्त पर अपना मत प्रस्तुत किया है। इस विवेचन का लक्ष्य न्याय-सम्मत सम्बन्ध-सिद्धान्त की परीक्षा है। संक्षेप में, धर्मकीर्ति की मुख्य स्थापनाएँ इस प्रकार हैं–

(अ) सम्बन्ध नित्य नहीं है।

'... न सम्बन्धेऽस्ति नित्यता।'

(प्र. ३.२३२)।

(आ) सम्बन्ध की तात्त्विक सत्ता नहीं है।

"...सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत:।" (सप, १)।

'प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत:।" (वही, २)।

(इ) अनेक में एक साथ रहने वाला सम्बन्ध युक्तियुक्त नहीं है।

"सम्बन्धो नैकवृत्तिमान्।" (वही, ८)।

(ई) सम्बन्ध का ज्ञान भी वैसा नहीं है (जैसा सम्बन्धियों का होता है।)

"...न सम्बन्धमतिस्तथा।" (वही, ४)।

(उ) सम्बन्ध में वस्तुत: विकल्पात्मक (भ्रान्त) ज्ञान होने के कारण पदार्थ परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

"...विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव"। (वही, १७)।

(उ) न्याय, बौद्ध एवं शैव दृष्टि में सम्बन्ध–विषयक मतभेद का एक कारण यह है

कि न्याय इसे प्रमेय (या बाह्य पदार्थ) दृष्टि से देखता है और बौद्ध भी इसी दृष्टि से न्याय का खण्डन करता है जबकि शैवदृष्टि सम्बन्ध को आन्तर-बाह्य दोनों दृष्टियों से देखते हुए तथा इसमें भी आन्तर को प्रधान मानते हुए इसकी व्याख्या करती है। साथ ही स्वातंत्र्य शक्ति की शैव धारणा का यह चमत्कार है कि वह सम्बन्ध के स्वरूप में असंभव और अव्यावहारिक दिखाई देने वाले लक्षणों का भी समन्वय कर लेती है। शैव मत का वैशिष्ट्य यह है कि वह अचेतन पदार्थों तक सीमित सम्बन्ध के इस विवाद को चेतन पर केन्द्रित करके, सभी विरोधों और शंकाओं का संतोषप्रद समाधान कर देता है।

(ऊ) मतत्रय में मतभेद का एक मुख्य कारण ज्ञान-लक्षण में इनका मत-वैभिन्य है। नैयायिक सविकल्प ज्ञान को सत्य मानता है, बौद्ध मत निर्विकल्प ज्ञान को तथा शैव दोनों को सत्य मानता है। इसी प्रकार असत्य, अज्ञान आदि की परिभाषाओं में भी इन तीनों में मतभेद है। इसी मत के कारण सम्बन्ध की सत्यता में मतभेद उत्पन्न होते हैं।

शैव पक्ष सविकल्पज्ञान, अज्ञान, भ्रम, व्यावहारिक ज्ञान आदि को अपूर्ण ज्ञान किंवा पूर्ण ज्ञान का ही एक आभास अथवा सत्य शिव का सत्य आभास अथवा शिव की स्वातंत्र्य शक्ति का ही विस्फार मानकर उसे भी सत्य और ज्ञान की कोटि में मानता है। वह अज्ञान को ज्ञान का अभावरूप या ज्ञान का सर्वथा विरोधी नहीं मानता है। इसलिए सम्बन्ध के ज्ञान को सत्य सिद्ध करने में उसे कोई विसंगति नहीं दिखाई देती। जबकि धर्मकीर्ति के अनुसार सविकल्पज्ञान भ्रम है, ज्ञान का विरोधी है और सम्बन्ध का ज्ञान भी वैसा ही होने के कारण अज्ञान है, कल्पना है, भ्रान्ति है।

(ए) सम्बन्ध कल्पना-निर्मित है। "सम्बन्धः कल्पनाकृतः।" (प्र. ३.२३८)। "अमिश्राः स्वयंभावाः तान्योजयति कल्पना।" (संसि, ६)।

(ऐ) कल्पना-निर्मित सम्बन्ध में वे दोष नहीं हैं जो उसे सत्य और नित्य मानने में आते हैं।
"...सम्बन्धे नायं दोषो विकल्प्यते।" (वही, ३.२३४)।

समीक्षा

काश्मीरीय शैव—मत के सम्बन्ध-सिद्धान्त की विवेचना में धर्मकीर्ति का विशेष महत्त्व है। उत्पलाचार्य ने इसके मत का सम्मानपूर्वक उल्लेख (संसि, ६) किया है। दोनों आचार्यों के प्रतिपादन में सामान्य बिन्दु तीन हैं— सम्बन्ध की सत्यता, सम्बन्ध लक्षण, 'अनेकता में एकता'।

आचार्य उत्पल ने सम्बन्ध का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार से निर्धारित किया है जिससे एक ओर न्याय और बौद्ध मतों से उसका साम्य और वैषम्य भी प्रदर्शित होता है तथा दूसरी ओर इन दोनों मतों से उसकी विलक्षणता भी सिद्ध होती है। अर्थात् तीनों ही पक्षों में सम्बन्ध

के स्वरूप को लेकर कुछ बिन्दुओं पर सहमति तथा कुछ पर असहमति है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्त्ति द्वारा न्यायपक्ष की कुछ आलोचनाओं से उत्पलाचार्य सहमत हैं और कुछ से असहमत।

(अ) सम्बन्ध घटादि बाह्य पदार्थ की भाँति सत्य है– न्याय के इस पक्ष का धर्मकीर्ति एवं उत्पल दोनों विरोध करते हैं। किन्तु जहाँ धर्मकीर्ति इसे भ्रान्ति, कल्पना–विकल्पज्ञान आदि मानते हुए असत्य कहते हैं वहीं उत्पल इसकी बाह्य सत्ता का खण्डन करते हुए इसे प्रमाता के अनुभव में सत्य मानते हैं।

(आ) नैयायिक सम्बन्ध को द्विष्ठ मानने के साथ स्वतंत्र इकाई के रूप में सत्य भी मानता है। जबकि धर्मकीर्ति एवं उत्पल दोनों ही इसका खण्डन करते हैं। किन्तु धर्मकीर्ति का पक्ष यह है कि द्विष्ठता असंभव है तथा स्वतंत्र सत्ता के रूप में (सम्बन्धियों से भिन्न) सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तथा द्विष्ठता और स्वतंत्र सत्ता परस्पर विरोधी हैं। इसलिए दोनों ही स्वीकार्य नहीं है। वहीं उत्पल का मत है कि द्विष्ठता बाह्य है, प्रमेयों में है तथा सहावस्थान या ऐक्य आन्तर है। अत: उत्पल न्याय के सम्बन्ध-स्वरूप के दो पक्षों को बाह्य एवं आभ्यन्तर अर्थात् प्रमेयों एवं प्रमाता में मानकर सम्बन्ध की सत्यता की व्याख्या करता है।

(इ) 'अनेकता में एकता' का सम्बन्ध-लक्षण धर्मकीर्ति के मत के विरुद्ध है क्योंकि उनके सिद्धान्तानुसार एक क्षणिक पदार्थ में दो (भिन्न) गुण या स्वभाव भी नहीं रह सकते तब अनेकता और एकता जैसे दो परस्पर विरोधी स्वभाव कैसे रह सकते हैं। किन्तु उत्पल के दर्शन में यह प्रमाता का स्वभाव है, स्वातंत्र्य का चमत्कार है जिसके फलस्वरूप ऐसा संभव है। बीज-अंकुर आदि व्यावहारिक उदाहरणों से इसकी पुष्टि होती है।

(ई) धर्मकीर्ति एवं उत्पल में सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में मतभेद का एक कारण दोनों के सत्यलक्षण में भिन्नता है।

धर्मकीर्ति अर्थक्रियाकारिता को सत्य मानते हैं और अर्थक्रियाकारिता के लिए वस्तु का क्षणिक होना आवश्यक है। एक क्षणिक वस्तु में एक ही अर्थक्रियाकारिता संभव है। सम्बन्ध में ऐसी अर्थक्रियाकारिता नहीं है तथा उसे क्षणिक नहीं, नित्य बताया जाता है, अत: वह सत्य नहीं है। दूसरी ओर उत्पल का मत है कि लोक-व्यवहार में सत्यता का निर्णय अर्थक्रियाकारिता से नहीं, प्रकाशमानता से होता है। वस्तु का स्वभाव प्रकाशमानता है, वह व्यवहार में प्रकाशित होती है और प्रमाता के अनुभव में प्रकाशित होती है, इसलिये सत्य है। बौद्ध वस्तु सत्ता और अर्थक्रिया में अभेद मानते हैं जबकि शैव मतानुसार वस्तु का स्वभाव प्रकाशमानता है और अर्थक्रिया करने न करने में वस्तु (और प्रमाता) का स्वातंत्र्य है।

अतः न्याय और बौद्ध मतों से उपर्युक्त साम्य-वैषम्य की पृष्ठभूमि में शिवाद्वयवाद की सम्बन्ध-विषयक अवधारणा सर्वथा विलक्षण है। यह व्यवहार और परमार्थ में सुसामंजस्य स्थापित करते हुए सभी विरोधी युक्तियों का सन्तोषप्रद समाधान प्रस्तुत करती है। इस अवधारणा में चेतन और अचेतन की मान्यताएँ, द्वैत और अद्वैत की धारणाएँ युक्तियुक्तरूप में समन्वित हैं। इसलिए सम्बन्ध–विषयक शैव अवधारणा भारतीय चिन्तन का समन्वयात्मक और चरम स्वरूप प्रस्तुत करती है।

सन्दर्भ-

१. उत्पलाचार्य प्रणीता सिद्धित्रयी संपादन-व्याख्यानुवाद
सूर्यप्रकाश व्यास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९८९।

२. प्रमाणवार्तिकम् - धर्मकीर्ति

३. सम्बन्धपरीक्षा - धर्मकीर्ति

४. बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन,
सूर्यप्रकाश व्यास, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, १९८६

५. धर्मकीर्ति की सम्बन्धविषयक अवधारणा,
सूर्यप्रकाश व्यास, परामर्श, सितम्बर, १९८४

●

काश्मीर शैव दर्शन की समन्वय दृष्टि[१]

भारतीय विचारधारा में समन्वय का आरम्भ वैदिक युग से ही हो गया था। वैदिक ऋषि जिस देवता की स्तुति करते थे उसी को सर्वगुण–सम्पन्न एवं प्रधान बना देते थे। अनेक देवताओं की स्वीकृति पर भी पुनः उनमें एकत्व मानने का प्रयत्न अभूतपूर्व था[२]। इसके बाद विविध दर्शन–सम्प्रदायों ने परस्पर आलोचना–प्रत्यालोचना में रत रहते हुए भी, समन्वय के इस बीज का विकास किया। बौद्ध विचारधारा की पृष्ठभूमि में शून्यवाद तथा वैदिक विचार–धारा की पृष्ठभूमि में शाङ्कर वेदान्त ने प्रमुखतः इस दिशा में प्रयत्न किये। किन्तु समन्वय का व्यापक एवं पूर्ण आदर्श (अथवा स्वरूप) प्रस्तुत करने में काश्मीर शैव दर्शन अपेक्षाकृत अधिक सफल रहा है।

आगम विचारधारा की इस प्रमुख दार्शनिक शाखा का प्रादुर्भाव एवं विकास काश्मीर में हुआ जो भारत की समन्वय–प्रधान संस्कृति का केन्द्र रहा है। इस दर्शन के साहित्य में अन्य दर्शन–विचारों की समालोचना का उद्देश्य उनका पूर्णतः खण्डन अथवा तिरस्कार नहीं है अपितु उनके विचारों की यथार्थता अथवा यत्किञ्चित् पूर्णता को उद्घाटित करके, तत्त्व–ज्ञान की व्यापक दृष्टि से उनकी भूमिका का निर्धारण है। यह मत प्रत्येक दर्शन को ज्ञान की पूर्णता का एक सोपान–विशेष मानता है। सभी दर्शनों के प्रति सम्मान की इस दृष्टि के कारण ही इसमें चार्वाक से लेकर वेदान्त तक के मतों की भूमिका का निर्धारण एवं समन्वय है। 'चार्वाक दर्शन को, 'शरीर को ही आत्मा मानने वाला मत' कह कर तत्त्वजिज्ञासा का प्रथम सोपान मानना, सांख्य दर्शन के २५ तत्त्वों को, उनके स्वरूप की किञ्चित् भिन्नता के साथ, तथावत् स्वीकार करना, पुरुष एवं प्रकृति की भिन्नता के विचार को परिष्कृत करके उनमें नित्य सामरस्य की धारणा प्रस्तुत करना, न्याय–मीमांसा तथा विज्ञानवादी बौद्ध को क्रमशः बुद्धि एवं बुद्धिवृत्ति एवं उपनिषद् के कतिपय विचारकों को प्राण को ही आत्मा मानने वाला कहना, वेदान्त के ब्रह्म को सदाशिव–स्तर पर रखना[३] तथा शैव दर्शन–शास्त्रों के अध्ययन से पूर्व, वेदादि एवं अन्य दर्शनों के साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता पर बल देना[४] आदि कतिपय ऐसे उदाहरण हैं जो इसकी उदार दृष्टि के प्रमाण हैं।

शैवागम एवं तन्त्र शैव दर्शन के उपनिषद् हैं। अतः काश्मीरीय शैव दर्शन के दार्शनिक अपनी मान्यताओं की प्रस्तुति में तथा अन्य दर्शन–मतों की समालोचना के प्रसंग में आगमवाक्यों को तो प्रमुखतः उद्धृत करते ही हैं किन्तु साथ ही उपनिषद् एवं गीता के वाक्यों को भी प्रमाण–स्वरूप उद्धृत करते हैं और यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि उनका मत

इनसे सर्वथा भिन्न नहीं है[५]। मूलतः आगम–परम्परा से जुड़े होने पर भी वैदिक परम्परा के साहित्य का सम्मान तथा प्रमाणरूप में उल्लेख इसकी समन्वय–दृष्टि का परिणाम है।

काश्मीर का यह आगमिक दर्शन अपनी तत्त्व–मीमांसा के द्वारा भी समन्वय का सर्वोत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है। इस मत में परमार्थ सत्ता एक, पूर्ण एवं अद्वय तत्त्व है। यहाँ सत्ता का स्वाभाविक अर्थ है सत् से युक्त होना अर्थात् भवन–कर्तृता। जो वस्तु सत् है, वह सत्तावान् भी है[६]। इसी तरह जो प्रकाशित अथवा आभासित होता है, वह सब सत् है। यही धारणा जगत् को भी सत्य सिद्ध करती है। पारिभाषिक शब्दों में प्रकाश (अर्थात् सत्) एवं विमर्श (अर्थात् सत्स्वभाव–सत्ता) परस्पर अविच्छिन्न हैं तथा विमर्श, प्रकाश का अविच्छिन्न स्वभाव है[७]। तत्त्व की इस मान्यता में एक ओर वस्तु–जगत् की सत्यता का स्वीकार है तथा दूसरी ओर अद्वय–स्वरूप की रक्षा।

द्वैत को सत्य स्वीकार करते हुए भी अद्वय तत्त्व की स्थापना करने का इस दर्शन का प्रयास सर्वथा विलक्षण एवं नूतन है। शाङ्कर वेदान्त द्वैत का निषेध करते हुए तथा द्वैत को मिथ्या बताते हुए अद्वैत तत्त्व की प्रस्थापना करता है। द्वैत का आभास उसमें (अद्वैत वेदान्त में) भी एक स्तर पर माना गया है किन्तु अन्ततोगत्वा परमार्थ दृष्टि से वह मिथ्या सिद्ध किया जाता है। इसी तरह दोनों ही मतों में माया का विचार विद्यमान है किन्तु जहाँ शङ्कर ब्रह्म को माया से सर्वथा परे रखते हैं और किसी भी देश–काल में उसे माया से स्पृष्ट नहीं होने देते वहीं काश्मीर के शैव दार्शनिक साहस करके यह कहते और सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म और माया अथवा शक्ति में द्वैत मानना अथवा इनमें से किसी को मिथ्या मानना अज्ञान (अर्थात् अपूर्णज्ञान)[८] है। ब्रह्म और माया नित्य समन्वित हैं, एक हैं। माया ब्रह्म का स्वभाव है, ब्रह्म की अविच्छिन्न शक्ति है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म ही माया है एवं माया ही ब्रह्म है। सूर्य को आवृत करने वाले बादल परमार्थतः सूर्य से पृथक् नहीं हैं।

शैव दार्शनिक अपने इसी सामरस्य के दृष्टिकोण के कारण अपने दर्शन के लिये अद्वय शब्द का प्रयोग करते हैं[९] और शंकर अद्वैत का। अद्वैत में द्वैत के निषेध द्वारा एक तत्त्व की स्थापना है जबकि अद्वय में द्वैत के स्वीकार–पूर्वक तथा उनमें नित्य समन्वय अथवा सामरस्य मानते हुए एक एवं पूर्ण तत्त्व की प्रस्थापना है। अतः यह कहना उचित ही प्रतीत होता है कि जिस तरह परवर्ती अद्वैत वेदान्त पूर्ववर्ती वेदान्त के मतों में परिष्कार करने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार कांश्मीर शैव दर्शन ने अद्वैत वेदान्त की मान्यताओं में परिष्कार करके उसके अद्वैत को और अधिक व्यापक एवं उदार बनाया है।

बौद्ध दर्शन–सम्प्रदायों में शून्यवाद की दृष्टि समन्वय की प्रतीत होती है। टी.आर. वी. मूर्ति[१०] विज्ञानवाद एवं शाङ्कर मत की समालोचना करते हुए कहते हैं कि ये मत अद्वैतवादी

अवश्य हैं परन्तु अद्वैतवाद का वास्तविक प्रयोजन शून्यवाद में सार्थक होता है। उनके मत में अद्वैत दृष्टि तत्त्वमीमांसक (Ontological approach) है तथा अद्वयदृष्टि ज्ञानमीमांसक (Epistomological approach)। इस अद्वयवाद में किसी वस्तु को तत्त्व या सत्ता की दृष्टि से देखना एक दृष्टि के प्रति पक्षपात है। अत: अद्वयवादी शून्यवाद में समस्त दृष्टियों के परित्याग की दृष्टि अपनाई गई है।

मूर्ति महोदय द्वारा की गई अद्वैत एव अद्वय शब्दों की उपर्युक्त व्याख्या के साथ एक सीमा यह रही है कि वह मात्र विज्ञानवाद, अद्वैत वेदान्त एवं शून्यवाद को ध्यान में रखकर की गई है। अद्वैत शब्द के पीछे तत्त्व–मीमांसक दृष्टि रही है यह तो स्वीकार्य है किन्तु अद्वय दृष्टि केवल ज्ञान मीमांसक है इससे यहाँ मतभेद है। शून्यवादी दृष्टि से अद्वय का अर्थ ज्ञानमीमांसक हो सकता है परन्तु काश्मीरीय शैव दृष्टिकोण से पूर्ण अद्वय दृष्टि वह है जिसमें तत्त्व मीमांसक एवं ज्ञान मीमांसक दोनों ही दृष्टियों का समन्वय हो। तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा में से किसी भी एक के अस्वीकार में निषेधात्मक दृष्टि की ही गन्ध अधिक है, समन्वय की नहीं। इस तरह शून्यवाद द्वैत को ही मिथ्या कहकर किसी भी तत्त्व की परमार्थ सत्ता नहीं मानता (अर्थात् शून्य अथवा नि:स्वभावता को ही परमार्थ मानता है) और शाङ्कर मत द्वैत को मिथ्या कहकर एक ही परमार्थ सत्ता मानता है। परन्तु शैव दर्शन द्वैत को साहसपूर्वक सत्य स्वीकार करते हुए भी एक अद्वय तत्त्व की परमार्थ सत्ता सिद्ध करता है। इसलिये अद्वैत का मूलभूत आशय इसी दर्शन में पूर्ण होता है।

शिव–शक्ति के सामरस्य को मानने वाले इस दर्शन की समन्वयदृष्टि का स्वरूप इसके मुक्ति–विचारों में भी परिलक्षित होता है। यह मत जीवन्मुक्ति के विचार पर अधिक बल देते हुए भोग और मोक्ष के सामरस्य को मानता है[११]। 'जिस मुमुक्षु का हृदय जिन भोगों में तल्लीन है, तन्निष्ठ है वह उन्हीं के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेता है[१२]। इसमें मुमुक्षु और मुक्त दोनों के लिये कर्म करना त्याज्य नहीं है अपितु इसके विपरीत कर्तृत्व को उसका स्वभाव माना गया है[१३]। अत: सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक[१४] केवल ज्ञान से मुक्ति दिलाने वाले वेदान्त दर्शन की अपेक्षा यह मत अधिक उदार है। वेदान्त की भाँति इस दर्शन में भी मुमुक्षु के लिये वर्णादि के भेद का निषेध है किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि इसमें न केवल शूद्रादि मनुष्यों को अपितु पशु–पक्षी को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है[१५]। जहाँ तक मुक्ति के उपायों का प्रश्न है शङ्कर ने अपने शुद्धाद्वैत के मूल मन्तव्य की रक्षा करते हुए तदनुकूल ऐसा समन्वय का मार्ग निकाला, जिसमें शास्त्र, यौगिक क्रियाएँ, उपासनाएँ एवं कर्मादि को एक स्तर पर स्थान देते हुए (अर्थात् मुक्ति में साक्षात् उपाय न मानकर चित्त–शुद्धि का हेतु मात्र मानते हुए) अन्य विचार–पद्धतियों का, अपितु शाङ्कर मत के सहित आगम एवं तन्त्रों में बताये गये उपायों का भी सफल समन्वय किया। इस दर्शन की बौद्ध एवं पौरुष ज्ञान[१६] की धारणाएँ इसी विचार की पुष्टि करती हैं।

सन्दर्भ-

१. अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के २८वें अधिवेशन में पठित।

२. द्रष्टव्य: ऋक्. १०.१९१.२, १.१६४.४६; यजु. ३२.१।

३. शैव दार्शनिकों की इस दृष्टि के लिये निम्न वाक्य द्रष्टव्य हैं।

(अ) न हि सर्वत्र सर्वैरर्थैस्तुल्यैर्भाव्यम् (शिवदृष्टि, पृ० १६३);

(ब) सर्वाणि दर्शनानि परोपकारार्थमेव कांचित्कांचिद्‌भूमिकां दृढ़ीकुर्वन्ति अन्यथा परपददर्शिनां तेषामवान्तरनिष्ठता न युक्ता (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग१, पृ० ३१७);

(स) तद्‌भूमिका : सर्वदर्शनस्थितय: (प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र ८)।

४. द्रष्टव्य क्षेमराज कृत—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र ८; तंत्रालोक विवेक, १.३३, पृ० ६९—७०; शिवदृष्टि, १.२, पृ० ४; तन्त्रालोक, १.३३।

५.(अ) योऽधीति निखिलागमेषु पदविद् यो योगशास्त्रश्रमी,
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरति: श्रीप्रत्यभिज्ञामृते।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वंतज्ञानवित्
सोऽस्मिन् स्यादधिकारवान् कलकलप्राय: परेषां रव:।।

उद्‌धृत, पांडेय, अभिनवगुप्त., पृ. २९५।

(ब) षट्‌शास्त्रविद् यो वेदस्य षडङ्गज्ञश्च वेदवित्।
स एव श्रीप्रत्यभिज्ञाध्ययनेऽधिकृतो भवेत्।। वही; पृ० २९७।

६.(अ) काश्मीर शैव दर्शन के लगभग सभी प्रमुख ग्रन्थों में उपनिषद् एवं गीता के प्रचुर उद्‌धरण मिलते हैं।

(ब) शैव दर्शन का उपनिषद् की अपेक्षा गीता से अधिक स्पष्ट एवं निकट का सम्बन्ध है। शैव मत की परम्परागत मान्यता के अनुसार कृष्ण त्रिक दर्शन की गुरु—परम्परा में परिगणित हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार ऋषि दुर्वासा ने कृष्ण को ६४ आगमों की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार महाभारत के मोक्ष पर्व में कहा गया है कि कृष्ण ने उपमन्यु से द्वैत एवं अद्वैत शैवागमों के उपदेश ग्रहण किये।

(स) गीता को शैव दर्शन का ग्रन्थ मानते हुए वसुगुप्त (९वीं शती का प्रारम्भ) ने इस पर 'वासवी' टीका लिखी जो दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने 'भगवद्‌गीतार्थसंग्रह' में शैव दृष्टिकोण से इसके सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत किया तथा रामकण्ठ (१०वीं शती) ने इस पर 'सर्वतोभद्र' नामक टीका लिखी।

७. शिवदृष्टि, ४.६ गीता (२.१६) भी यही मत व्यक्त करती है।

८. द्रष्टव्य : भास्करी, १.१.३; शिवदृष्टि, ४.७; विज्ञानभैरवविवृत्ति, १३७।

९. अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव के स्थान पर अपूर्ण ज्ञान करने की प्रवृत्ति शिवसूत्र (१.२) से आरम्भ हुई जिसे काश्मीर शैव दर्शन के सोमानन्द (शिव दृष्टि, ३.४८), अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक, १.२५, २६, १३.१६) तथा जयरथ (तन्त्रालोक विवेक, १.२३, ३०, ९.६२) आदि दार्शनिकों ने अपनी विस्तृत व्याख्याओं से पुष्ट किया।

१०. द्रष्टव्य : शिवदृष्टिवृत्ति, ३.१, ७, ४.३४; तंत्रालोकविवेक; १.१५९, ९.१७१।

११. द्रष्टव्य : Murti, T.R.V., Central Philosophy of Buddhism, p. 217-8.

१२. भोगमोक्षसाक्षात्कारलक्षणो जीवन्मोक्ष:। महार्थमंजरीपरिमल, ५२।

१३. द्रष्टव्य : तंत्रालोक, १.६४।

१४. प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र, १०।

१५. विस्तारार्थ द्रष्टव्य – बृहदारण्यक उपनिषद् (४.५.१५), मुण्डक उपनिषद् (१.१) तथा गीता (१८.५५) पर शांकर भाष्य।

१६.(१) अत्र स्वात्मज्ञाने न अधिकारिनियम : यतो ये केचन जन्मभरणादिदोषाघ्राता : तिर्यञ्चोऽपि वा ते सर्वे स्वात्ममहेश्वरप्रत्यभिज्ञानात् तन्मया भवन्ति। परमार्थसारविवृत्ति, ८२।

(२) और भी द्रष्टव्य, भास्करी, १.१.१।

१७. विस्तारार्थ द्रष्टव्य—तंत्रालोक, १.२४, ४२, ४४।

●

कालिदास के साहित्य में शिव

शिव भारतीय साहित्य, संस्कृति और दर्शन का अत्यन्त, प्रभावशाली एवं व्यापक तत्त्व है। महाकवि कालिदास इसके गौरव से सुपरिचित थे। उनके साहित्य में ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदि की अपेक्षा इसी तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। कवि की सात में से चार रचनाओं का आरम्भ शिव–वन्दना से होता है। एक अन्य रचना (मेघदूतम्) में कवि ने शिव का सरस वर्णन करने का अवसर साधिकार ले लिया है और दूसरी (कुमारसंभवम्) का तो वह साक्षात् नायक ही है।

संक्षेप में, कालिदास के साहित्य में शिव चार स्तरों पर वर्णित है–

(१) रचना के प्रमुख पात्र के रूप में।

(२) उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में।

(३) रंचनाओं के आरम्भ तथा अन्त में मंगल श्लोकों में।

(४) प्रसंगानुसार संग्रथित वक्तव्यों में।

प्रमुख पात्र

कुमारसंभवम्* कवि के शिव–सम्बन्धी विचारों की प्रतिनिधि रचना है। इसका कथानक **महाभारत, रामायण, शिवपुराण** आदि पौराणिक साहित्य से लिया गया है[१]। इसलिये इसके नायक का स्वरूप भी मूलतः और मुख्यतः पौराणिक है। कवि ने शिव के पौराणिक स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए जिन अभिधानों का प्रयोग किया है उनमें प्रमुख हैं– अष्टमूर्ति,[२] पशुपति,[३] नीलकंठ,[४] त्रिनेत्र,[५] वृषराजकेतन,[६] इन्दुमौलि,[७] शितिकंठ,[८] पिनाकपाणि,[९] हर,[१०] गिरीश,[११] स्मरशासन,[१२] शूली,[१३] पुरशासन,[१४] भव[१५] आदि।

शिव अपनी पूर्व पत्नी सती की मृत्यु के बाद गृहस्थ जीवन त्याग कर योगाभ्यास में लीन हैं (कु.१.५३)। उनका योगाभ्यास फल–विशेष के लिए नहीं है क्योंकि वे स्वयं ही तपस्या के फलों के विधाता हैं (कु.१.५७)। भागीरथी के किनारे (कु.१.५७), देवदारु वृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछे हुए मृगचर्म पर शिव वीरासन (कु.३.५९) की योगमुद्रा[१६] में बैठे हैं (कु. ३.४४)। उनके जटाजूट सर्प से बंधे हैं। कान के पास रुद्राक्ष की माला एवं कमर में मृगचर्म धारण किये हुए हैं (कु. ३.४५–६)। उनके दैदीप्यमान नेत्र स्थिर हैं (कु.३.४७)। प्राणादि वायु का संचरण नियंत्रित है (कु.३.४८)। वह अपने ही स्वरूप का साक्षात्कार करने में लीन हैं। उनके प्रमथादिक गण उनकी सेवा में सदैव उपस्थित रहते हैं। (कु. १,५५–६)।

महायोगी शिव के इसी स्वरूप का यह प्रभाव था कि उनकी तपस्या भंग करने हेतु आये अभिमानी कामदेव के हाथों से कब धनुष–बाण गिर गए, उसे खुद पता नहीं चला। यही महायोगी जब क्रोधाविष्ट होता है तो इसकी भृकुटियाँ टेढ़ी हो जाती हैं। तीसरी आँख से आग की धधकती हुई ज्वाला निकलने लगती है (कु. ३.७१)। इस क्रोध[१७] के समक्ष देवताओं की प्रार्थनाएँ प्रभावहीन हैं।

शिव दयालु भी हैं। इसलिए नन्दी के निवेदन पर उन्होंने पार्वती को आश्रम में प्रवेश दिया। उसके द्वारा समर्पित 'पुष्कर बीजमाला' को स्वीकार किया (कु.३.६५)। उनके इसी दयालु स्वरूप के कारण आकाशवाणी के द्वारा रति को ढाढस मिला (कु.१ ४३)। उनके उदार एवं लोकोपकारक व्यक्तित्व का ही यह प्रमाण है कि उन्होंने बिना किसी स्वार्थ के, वेदों के कल्याण हेतु, पुनर्विवाह एवं गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया।

जितेन्द्रिय (कु.३.५५) एवं संयमियों में प्रथम (कु.६.३४) शिव का व्यापक प्रभाव राक्षस, ऋषि तथा देवताओं सभी से परे है। तारकासुर जैसा अभिमानी, शक्ति सम्पन्न राक्षस शिव से शत्रुता नहीं लेना चाहता (कु. २.३४)। नारद उन्हें वीणा सुनाते हैं (र.८.३३)। इन्द्रादि देव उनके समक्ष श्रद्धावनत रहते हैं (कु. ५.८०)। वह नाटक का जनक है (मा.१.४)। नृत्य–प्रसङ्ग में देवता उसकी चरण–रज को मस्तक पर धारण करते हैं (कु.५.७९)। जिस हिमालय पर उसके चरण–चिन्ह पड़ते हैं वह स्थान योगियों के लिए तीर्थ है ([१८]पूर्व मेघ, ५५)।

कवि–वर्णित शिव के विवाह (कु.७.३८,६९,८९) में देवमाताएँ, काली, गंगा, यमुना, सप्तर्षि, विश्वावसु लक्ष्मी, सरस्वती आदि की सेवा एवं भूमिका शिव के पौराणिक व्यक्तित्व का ही निदर्शन है।

कालिदास के समय में इन्द्र, कुबेर आदि प्राचीन वैदिक देवता गौण हो गये थे तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव ही प्रमुख थे।[१९]कवि ने तीनों को समान महत्त्व भी दिया है।[२०]अत: इनमें कौन श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है। तथापि कवि की सभी रचनाओं में वर्णन का आधिक्य एवं **कुमारसंभवम्** (२.५८) में ब्रह्मा के कथन– कि हम (ब्रह्मा, विष्णु) उस परम ज्योति की महिमा का पता नहीं लगा सकते–से सुस्पष्ट है कि कवि तीनों में शिव को ही प्रमुख मानता था।

कुमारसंभवम् में चित्रित शिव का उपर्युक्त स्वरूप पौराणिक अवश्य है किंतु शिव के पौराणिक व्यक्तित्व का यथावत् चित्रण कवि का अभीष्ट नहीं था। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' की स्पष्ट मान्यता वाले कालिदास जैसे कवि के लिए ऐसा संभव एवं उचित भी नहीं था। यही कारण है कि कवि ने अपने काव्य–कौशल तथा जीवन–दर्शन से उसके इस पौराणिक व्यक्तित्व का मानवीकरण भी किया है। दक्ष द्वारा शिव को यज्ञ में न बुलाने पर शिव का

क्रोधित होना, दक्षपुत्री का सती होना तथा शिव द्वारा पत्नी–विरह में योग–समाधि धारण कर विरक्त हो जाना ऐसी मानवोचित घटनाएँ हैं जिन्हें यद्यपि कवि ने विस्तार नहीं दिया है और जिनका संकेत–मात्र किया है, फिर भी ये घटनाएँ स्वयं पुराणों में देवों के मानवीकरण की प्रवृत्ति की द्योतक हैं। इनके अतिरिक्त स्वयं कवि ने भी अपने काव्य–कौशल से **कुमारसंभवम्** के सभी पात्रों और विशेष रूप से शिव का कुछ भिन्न रूप में ही मानवीकरण किया है। ऐसे प्रसंगों को त्रिधा विभाजित किया जा सकता है :–

अ– शिव द्वारा लोकाचार का निर्वाह।

ब– पार्वती–प्रसंग में उद्विग्नता।

स– हास्य–व्यंग्य प्रसंग।

लोकाचार :– वैसे सप्तम सर्ग में शिव–पार्वती के विवाह की संपूर्ण प्रक्रिया ही लौकिक है और इस पर **महाभारत** के अनुशासन पर्व (८४.६१) तथा **रामायण** के बालकाण्ड(३५.२०) का प्रभाव है। तथापि कविकृत कुछ संस्पर्श इसे अधिक मानवोचित बना देते हैं जैसे –

–शिव लौकिक मानव की भाँति सप्तर्षियों को हिमालय के पास भेजते हैं ताकि वे शिव के लिए पार्वती का हाथ माँग सकें (कु. ६.२९)।

– लौकिक विनय का आश्रय लेकर शिव कहते हैं कि हिमालय से मेरा सम्बन्ध मुझे कृतार्थ (अवंचित) कर देगा (कु. ६.३०)।

– विष्णु के हाथ का सहारा लेकर शिव का वृषभ से उतरना (कृ.७.७०)।

– श्वसुर हिमालय को प्रणाम करना (कु.७.५४)।

– शिव द्वारा, विवाह–प्रसङ्ग में, मन्दहासपूर्वक, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवों का यथायोग्य सम्मान करना (कु. ७.४६,८६)।

उद्विग्नता

– काम का दहन करने वाला पौराणिक शिव पार्वती की तपस्या से इतना अभिभूत हो जाता है कि उसका दासत्व स्वीकार करने में तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करता (कु.५.८६)।

– दासत्व स्वीकार करने के बाद शिव तत्काल विवाहेच्छु हैं किन्तु पार्वती द्वारा पिता से संपर्क करने का निवेदन करने पर बड़ी कठिनाई से पार्वती को विदा करते हैं (कु,६.३)।

– सप्तर्षि चौथे दिन विवाह की तिथि निश्चित होने की सूचना देते हैं और शिव एक साधारण मानव की तरह विवाह की प्रतीक्षा के तीन दिन बड़ी व्याकुलता से बिताते हैं (कु. ६.९५)।

— दुल्हा बने शिव खड्ग–दर्पण में अपनी छवि देखते हैं (कु.७.३६)।

— विवाह–मंडप में बैठे शिव–पार्वती द्वारा लज्जा का अभिनय एवं कामोत्पत्ति की अनुभूति (कु. ७.७४)।

हास्य–व्यंग्य–प्रसंग

पार्वती की परीक्षा हेतु शिव द्वारा ब्रह्मचारी का रूप धारण करना (कु.५.३०) कवि कल्पित प्रसंग है। उमा–ब्रह्मचारी के इस संवाद[२१] में हास्य–व्यंग्य का समस्त पुट शिव को चतुर मानव के धरातल पर ले आता है। इसी प्रकार सखियों से पार्वती की चुहुल (कु. ७.१०), गणों द्वारा वधू पार्वती को विभिन्न भंगिमाओं से हँसाना (कु.७.९५), गौरी का सौत के प्रति ईर्ष्याभाव (पूर्वमेघ ५०) कैलास पर पार्वती के हाथ में हाथ डाले शिव का भ्रमण (पूर्वमेघ, ६०) इत्यादि मानवोचित व्यक्तित्व की झलकियाँ हैं। अष्टम सर्ग के संभोग–प्रसंग में कवि ने शिव के रसिक–स्वभाव का स्वाभाविक चित्रण करके उन्हें मानवों के निकट ला खड़ा किया है।

पौराणिक पात्र के इस मानवीकरण के फलस्वरूप जहाँ एक ओर शिव के व्यक्तित्व में लौकिक दृष्टि से विश्वसनीयता आ गई है वहीं कवि–कौशल की दृष्टि से काव्य का गौरव बढ़ गया है।

कवि ने अपनी विभिन्न रचनाओं में यत्र–तत्र शिव एवं उसके चरित से सम्बद्ध विविध पक्षों का अलंकार आदि के रूप में गौण उल्लेख भी किया है। ऐसे उल्लेखों में काम–दहन के अतिरिक्त मृगरूपधारी प्रजापति[२३] का वध एवं त्रिपुरदाह[२४] के प्रसंग प्रमुख हैं जिनके द्वारा उसके वीर, भक्तवत्सल एवं लोकोपकारक पौराणिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है। शिव के इसी पौराणिक व्यक्तित्व से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध पार्वती, कार्तिकेय, चन्द्रकला, गंगा, पिनाक, नन्दी, कैलास, आदि का प्रसंगानुसार न्यूनाधिक वर्णन एवं अलंकारादि के रूप में इनके प्रयोग का बाहुल्य है।

कालिदास की विभिन्न कृतियों में वर्णित शिव का विश्लेषण उसके मानवीकृत पौराणिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त दार्शनिक स्वरूप की भी अभिव्यक्ति करता है। इस स्वरूप का प्रथम निदर्शन उसकी रचनाओं के प्रारम्भिक मंगल–श्लोक हैं तथा द्वितीय निदर्शन में **कुमारसंभवम्** सहित अन्य रचनाओं में यत्र–तत्र प्रसंगानुसार संग्रथित वक्तव्य माने जा सकते हैं।

विक्रमोर्वशीयम् (१.१) के नान्दी पाठ में स्थाणु शिव के उस व्यापक स्वरूप से निःश्रेयस् की कामना की गई है जो अद्वितीय पुरुष है, सच्चे अर्थों में ईश्वर है तथा योगाभ्यास द्वारा अनुभवगम्य है। इस स्तुति में वेदान्त शब्द के उल्लेख के साथ ही परमतत्त्व, मोक्षोपाय एवं प्रयोजन का स्पष्ट निर्वचन है। अतः इस स्तुति का शिव दार्शनिक तत्त्व है।

मालविकाग्निमित्रम् (१.१) के नान्दी पाठ में शिव के उस स्वरूप से तामसी वृत्ति का निवारण करते हुए सन्मार्ग में प्रवर्तन की प्रार्थना की गई जो अष्टमूर्ति होते हुए भी निरभिमानी है, ऐश्वर्य–सम्पन्न होते हुए भी गजचर्मधारी है, पत्नी–सम्बद्ध होने पर भी अनासक्त योगिराज है।

विक्रमोर्वशीयम् की दार्शनिक स्तुति की अपेक्षा **मालविकाग्निमित्रम्** की यह स्तुति तथा इसमें प्रयुक्त शिव का स्वरूप कुछ भिन्न है। निःश्रेयस् की अपेक्षा तामसी वृत्ति के निवारण एवं सन्मार्ग के प्रकाशन का उल्लेख सांख्य के क्रमशः तमोगुण एवं सत्वगुण का स्मरण दिलाता है। कवि सांख्य की मूल दृष्टि से सुपरिचित था (कु. २.१३)। अतः इस स्तुति के प्रयोजन भाग पर सांख्य का प्रभाव स्पष्ट है। तमस् आदि गुण गीता, पुराण आदि में भी चर्चित हैं। अतः सांख्य के साथ इनका प्रभाव भी स्वीकरणीय है।

इस स्तुति में प्रस्तुत शिव का स्वरूप प्रथम दृष्टि में पौराणिक प्रतीत होता है क्योंकि शिव का अष्टमूर्ति स्वरूप शिवपुराण, शैवागमों आदि में स्वीकृत है। 'कृत्तिवासाः' तथा 'कान्तासम्मिश्रदेहः' जैसे शब्द–प्रयोग शिवचरित की पौराणिक कथाओं का संकेत करते हैं। इसमें **विक्रमोर्वशीयम्** की स्तुति का अद्वितीय पुरुष अष्टमूर्ति हो गया है। योगाभ्यास से प्राप्त तत्त्व स्वयं महायोगी बन गया है।

कवि ने **रघुवंशम्** (२.३५), **कुमारसंभवम्** (६.७६) तथा **शाकुन्तलम्** (१.१) में भी शिव को अष्टमूर्ति कहा है। इन उल्लेखों में **रघुवंशम्** का उल्लेख गौण है। **कुमारसंभवम्** के उल्लेख में शिव और जगत् के सम्बन्ध को लक्ष्य करके कहा गया है कि शिव अपनी पृथ्वी आदि आठ मूर्तियों से संसार को उसी प्रकार धारण करता है जैसे मार्ग में घोड़े रथ को धारण करते हैं। इस उल्लेख को दार्शनिक दृष्टि से देखने पर शिव जगत् का आधार, अध्यक्ष, नियन्ता आदि सिद्ध होता है। **शाकुन्तलम्** के अष्टमूर्ति स्वरूप के साथ कवि ने 'प्रपन्नाभिः' का प्रयोग किया है जो उपर्युक्त पक्षों के अतिरिक्त अन्य ही पक्ष की ओर संकेत करता है और वह पक्ष है इन आठ मूर्तियों का परस्पर संबंध। एतदनुसार शिव एवं आठ मूर्तियों का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। आठों मूर्तियों को **कुमारसंभवम्** (६.७५) में उल्लिखित अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सम्बद्ध करते हुए यदि पार्वती अथवा शक्ति अथवा ऐश्वर्य का प्रतीक या विस्तार मान लिया जाए तो **रघुवंशम्** (१.१) की स्तुति में 'वागर्थाविव संपृक्तौ' की सम्बन्धात्मक टिप्पणी से इस अविच्छेद्य सम्बन्ध की पुष्टि हो जाती है। अर्थात् 'प्रपन्नाभिः' 'गुणोपेतम्' एवं 'वागर्थाविव संपृक्तौ' के स्पष्ट उल्लेख शिव एवं उसकी मूर्ति, गुण तथा पार्वती में दार्शनिक सम्बन्ध का संकेत करते हैं।

यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि **मालविकाग्निमित्रम्** की स्तुति में साधारण रूप से उल्लिखित अष्टमूर्ति रूप का विकास अथवा विस्तार **शाकुन्तलम्** जैसे श्रेष्ठ नाटक एवं **रघुवंशम्** जैसे प्रौढ़ महाकाव्य की स्तुतियों में हुआ है।

शाकुन्तलम् के भरत वाक्य में शिव को 'नीललोहित:' 'परिगतशक्ति:' एवं 'आत्मभू:' कहा गया है। इस स्वरूप में **रघुवंशम्** की स्तुति के 'जगत: (माता) पितरौ' तथा **मालविकाग्निमित्रम्** एवं **शाकुन्तलम्** के शक्तिमान् ईश्वर से कोई वैलक्षण्य नहीं है, सिवाय इसके कि इसमें पुनर्जन्म से रक्षा का निवेदन है। अत: इस भरतवाक्य का शिव भी दार्शनिक तत्त्व ही है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कवि ने अपनी रचनाओं के आरम्भ–अन्त के स्तुति–श्लोकों में शिव के जिस स्वरूप को प्रस्तुत किया है वह पौराणिक शब्दावली के बावजूद दार्शनिक तत्त्व ही है।

कवि के शिव–सम्बन्धी दार्शनिक वक्तव्यों से उसके स्वरूप के अधोलिखित पक्ष उद्घाटित होते हैं–

–शिव इस सृष्टि का कारण है, उसका कारण कोई नहीं (कु. ३.१५; ५.८१ व ६.९; र. २.४४)।

– शिव–पार्वती (वाणी–अर्थ की भाँति) एक हैं (र.१.१; कु. ६.७९)।

– वह विश्व के कर्मों का साक्षी है (कु. ७.७८)।

– वह प्रकृति, पुरुष का भी कारण है (कु. २.१३)।

– वह मोक्षप्रद है (कु. ७.७७)।

– वह दृश्य प्रपंच से परे है (कु. ३.५८; ५.७६)।

– वह स्वयं प्रकाश, परम ज्योति है (कु. ३.५८)।

– वह प्राणियों का अन्तरात्मा है (कु. ५.५८; ६.२१)।

– वह प्रमाणों से परे है (कु. ५.७५, ७७, ७८; ६.२२)।

ये पक्ष निर्विवाद रूप से यह संकेत करते हैं कि कवि की दृष्टि अद्वैतवादी थी। वह शिव को अद्वैत तत्त्व के रूप में ही प्रस्तुत करना चाहता है। किन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि यह अद्वैत शैवागमों का है या वेदान्त का।

वेदान्त एवं शैवों की क्रमश: शांकर अद्वैत एवं प्रत्यभिज्ञा शाखाएँ कवि के प्रादुर्भाव के बाद की स्थापनाएँ हैं। अत: यह अद्वैतवाद उपनिषद् और गीता तथा शैवागमों दोनों का

ही माना जाना चाहिए। इनमें से किसी एक का प्रभाव मानना अनेक असंगतियों को उत्पन्न करेगा। क्योंकि कवि ने अनेकत्र अपने वेदान्त–ज्ञान एवं तन्त्रज्ञान[२६] का परिचय अथवा संकेत दिया है। वेदान्त शब्द का साक्षात् प्रयोग, योग को मोक्षोपाय मानना आदि से उसके वेदान्त–ज्ञान की पुष्टि होती है तो दूसरी ओर शिव–शिवा में अविच्छेद्य सम्बन्ध स्वीकार करना, मेघदूतम् में महाकाल के प्रति भक्ति को प्रकट करना, अपनी रचनाओं को शिव–स्तुति से प्रारम्भ करना, उसमें शिव को व्यापक महत्त्व प्रदान करना, योग–भोग के सामरस्य का जीवन–दर्शन प्रस्तुत करना आदि ऐसे तथ्य हैं जिनसे उसकी शैवागम–सम्मत अद्वय दृष्टि की पुष्टि होती है।

अत: निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि कालिदास के साहित्य में शिव के पौराणिक, दार्शनिक तथा मानवीकृत तीनों पक्षों का काव्यात्मक वर्णन है। ये तीनों पक्ष प्रथम दृष्टि में परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु कवि ने अपने काव्य में इन तीनों का सफलतापूर्वक समन्वय किया है। इसका पौराणिक शिव शिवत्व का, दार्शनिक शिव सत्य का तथा मानवीकृत शिव सुन्दर का प्रतीक है। अत: शिव के दार्शनिक, पौराणिक एवं मानवीकृत स्वरूपों के समन्वय का अर्थ है सत्य, शिव एवं सुन्दर का समन्वय। और यही समन्वयवादी दृष्टि उसके काव्य की शैली है, उसके जीवन का दर्शन है।

दूसरे शब्दों में कवि द्वारा प्रस्तुत शिव मात्र पुराणों से उधार लिये कथानक का पात्र नहीं है। वेदान्त के ब्रह्म या शैवागमों के शिव का मात्र दार्शनिक प्रतिनिधि नहीं है। वह अग्निमित्र या दुष्यन्त की भाँति साधारण मानव–मात्र भी नहीं है। कालिदास का शिव, कालिदास का ही शिव है। अपने साहित्य में इस प्रकार के शिव को प्रस्तुत करना ही, पुराण और दर्शन–ग्रन्थों से भिन्न, कवि का मौलिक योगदान है।

कालिदास के साहित्य में शिव–तत्त्व का विश्लेषण उसके शैव होने के अवान्तर प्रश्न को भी उभारता है। किन्तु उसे भक्ति, धर्म, दर्शन आदि किसी भी दृष्टि से, किसी भी अर्थ में शैव कहने से पूर्व शिव तत्त्व के प्रति उसकी कवि–दृष्टि अथवा जीवन–दृष्टि को विस्मृत नहीं किया जाना चाहिये। वह मूलत:, वस्तुत: एवं पूर्णत: कवि था। कवित्व के निर्वाह में तथा काव्य के गौरव–विस्तार में जो कुछ आवश्यक, उचित एवं संभव था, उसने किया। उसने पौराणिक कथानक चुना, इसलिये उसे पुराणपंथी कहना, शिव–काव्य लिखा, इसलिए शैव कहना, राजाओं को नायक बनाया इसलिये राजगौरव से अभिभूत मानना कवि के कवित्व एवं काव्य के साथ अन्याय है।

अत: वह शैव भी भले ही हो किन्तु उससे पहले वह कवि है। शिव के प्रति उसकी आस्था उसके कविरूप पर हावी नहीं हुई है।

सन्दर्भ-

१. द्रष्टव्य (i) उपाधयाय, रामजी, महाकवि : कालिदासः, पृ० २१–३१.
(ii) भारद्वाज, शिवप्रसाद, कालिदास–दर्शन, पृष्ठ १०२ एवं ११२–७१.
(iii) Karmarkar, *Kalidas* P. ३५

२. (i) कवि ने शिव के अष्टमूर्ति स्वरूप का उल्लेख अनेकत्र किया है–
रघुवंशम् (२.३५), कु. १.५७; ६.२६, ७६; ७.७६, ८७; शा. १.१; मा. १.१।
(ii) शा. के अनुसार ये आठ मूर्तियाँ हैं– पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र एवं होता।
(iii) मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने रघु., शा., कु. की टीकाओं में विष्णुपुराण, शिवपुराण आदि ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत करते हुए अष्टमूर्ति रूप को पूर्णतः पौराणिक अथवा पुराण–सम्मत माना है।
(iv) अष्टमूर्ति के विविध व्याख्यान हेतु द्रष्टव्य भारतीय–कृत शिव–पुराण में शैव दर्शन तत्त्व, पृ. २०९–१६.

३. पूर्वमेघ, ३६,५६; कु. १.५३; ६.९५।
४. कु. ५.५७; ७.५१; ८.१२।
५. कु. ३.५१, ६६, ६९; ६.२९, ८९; पूर्वमेघ ५२, ६०, उत्तमेघ ५०, र. २.४२; १३.५१।
६. कु. ३.१४; ५.८४; ७.२९; र. ३.२३।
७. वही. ५.७८, ८६; ७.६३, ९४ इत्यादि।
८. वही. ६.८१।
९. शा. १.६; कु. ४.२४; ५.१, ५३; ८.२।
१०. पूर्वमेघ ७, ४६; र. ४.३२; ८.७; कु. १.४१, ५०; ३.१०, ४०;६४,६७; ४.३, ४०,४२; ७.२२, ४४, ५०, ५४, ९२; ८.१, ८१, ८७; मा. तृतीय अंक।
११. र. २.४१; कु. १.३७, ५०; ३.६५; ५.३।
१२. कु. ६.३।
१३. पूर्वमेघ १५, ५९; कु. ३.५७; ६.९४; ७.४०; र. २.३८।
१४. कु. ७.३०।
१५. वही. १.२१; ३.१५, ६३; ७.३०।
१६. उपाध्याय, भगवत्शरण; **कालिदासकालीन भारत**, भाग २ पृ० २८–३२ शिव की इस योग–मुद्रा के वर्णन पर मथुरा की बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की मूर्तियों का प्रभाव मानते हैं। किन्तु भारद्वाज, शिवप्रसाद (कालिदास दर्शन, पृष्ठ ३०) इसे योगदर्शन की परिभाषाओं पर आधृत वर्णन मानते हैं।
१७. र. (३.५२) में त्रिपुरदाह के प्रसङ्ग की शिव–मुद्रा का उल्लेख है। कु. (३.७०) के अनुसार इसी मुद्रा में काम ने शिव पर बाण–प्रहार किया था।

१८. मल्लिनाथ टीका में शंभु रहस्य से उद्‌धृत श्लोक इस प्रसंग में द्रष्टव्य है–
अव्यक्तं व्यंजयामास शिवः श्रीचरणद्वयम्।
हिमाऽद्रौ शांभवादीनां सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।
दृष्ट्वा श्रीचरणं सम्यक् साधकः स्थिरयेत्तनुम्।
इच्छाधीनशरीरो हि विचरेच्च जगत्त्रयम्।।

१९. द्रष्टव्य
(i) Sarma, Bimbeshwar, *An Interpretative Study of Kalidasa*, p. 52
(ii) Mirashi, Navaleker, *Kalidas*, p. 404.

२०. एकैव मूर्तिर्बिभेदे त्रिधा–सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ।।

२१. उपाध्याय, रामजी (**महाकवि : कालिदास**, पृ. २३) के अनुसार इस संवाद पर रामायण (उत्तरकांड, १७–१–२७) के वेदवती–रावण–संवाद का प्रभाव है। Karmakar (*Kalidas*, p. 39) पंचम सर्ग को कवि की मौलिक कल्पना मानते हैं।

२२. आरम्भ में रति–क्रीडा में पार्वती की झिझक (८.१). एवं लज्जा शिव का कामोद्‌दीपन (२), सखियों द्वारा किये गये कामोपदेश की विस्मृति (५), पार्वती के विवस्त्र रूप को देखने में शंकर का चातुर्य (७.११), शिव द्वारा सन्ध्या–वन्दनादि के लिए जाने पर (४८) पार्वती का दशनच्छद तथा सखियों से अर्थहीन बातें करना (४९) रूठी हुई पार्वती को मनाना (५१–७७), सूर्योदय होने पर भी देर तक शय्या पर पड़े रहना (८९) घर से बाहर न निकलना (९०) आदि ऐसे प्रसंग हैं जो शिव–पार्वती के व्यक्तित्वों के मानवीकरण की पुष्टि करते हैं।

२३. शा. १.६; र. ११.४४।

२४. पूर्वमेघ, ५६; कु. १२८; ५.५६; र. २.१२,३.५२१।

२५. भारद्वाज, शिवप्रसाद (**कालिदास–दर्शन**, पृ. ३४९–२) के अनुसार कवि ने इस उल्लेख के द्वारा जहाँ शैव अद्वैत के प्रति निष्ठा प्रदर्शित की है वहाँ काव्य के सम्बन्ध में अपनी धारणा भी अभिव्यक्त कर दी है।

२६. द्रष्टव्य वि., अंक २ में अपराजिता शिखा–बन्धिनी विद्या। मल्लिनाथ इसका आधार वृद्धवामकेश्वरी तंत्र मानते हैं।

धर्मकीर्ति की सम्बन्ध–विषयक अवधारणा

सम्बन्ध एक व्यावहारिक सत्य है। इसी के आधार पर लोक–व्यवहार चलता है। द्वैतवादी और अद्वैतवादी सभी दर्शन इसकी लौकिक सत्यता को स्वीकार करते हैं, किन्तु लोकव्यवहार का यही सत्य जब दर्शन की तत्त्वमीमांसा में विचार का विषय बनता है तो इसके पारमार्थिक अस्तित्व, लक्षण, स्वरूप, प्रकार, ज्ञान आदि सभी पक्षों पर अनेक प्रश्नचिन्ह लग जाते हैं। इस स्थिति में सम्बन्ध की यह समस्या अद्वैतवादी दर्शनों में भी उतनी ही गंभीर बन जाती है जितनी कि द्वैतवादी दर्शनों में।

बौद्ध दर्शन के आचार्य धर्मकीर्ति[1] (सातवीं शती) यद्यपि मुख्यत: न्यायविद्या के पण्डित हैं तथापि उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थों में प्रसंगत: तत्त्वों के स्वरूप एवं उनसे सम्बन्ध का भी तार्किक विवेचन प्रस्तुत किया है तथा इसी के साथ अन्य दर्शनों, विशेषरूप से न्याय दर्शन का युक्तियुक्त खण्डन भी किया है। सम्बन्ध की समस्या को धर्मकीर्ति कितना महत्त्व देते थे इसका प्रमाण उनकी स्वतंत्र लघु पुस्तिका सम्बन्ध परीक्षा[2] है। इसके अतिरिक्त प्रख्यात ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक के तृतीय परिच्छेद (१० कारिकाओं) में भी इन्होंने सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत किया है। यह निबन्ध प्रमुखत: इन्हीं दो ग्रन्थों पर आधारित है–

सम्बन्ध के विषय में धर्मकीर्ति की मुख्य स्थापनाएँ इस प्रकार हैं–

(अ) सम्बन्ध नित्य नहीं है।... न सम्बन्धेऽस्ति नित्यता। (प्र. ३.२३२)।

(ब) सम्बन्ध की तात्त्विक सत्ता नहीं है।

...सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत:। (सं प. १)

प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत:। (वही, २)

(स) अनेक में एक साथ रहने वाला सम्बन्ध युक्तियुक्त नहीं है।

...सम्बन्धो नैकवृत्तिमान्। (वही, ८)

(द) सम्बन्ध का ज्ञान भी वैसा नहीं है (जैसा सम्बन्धियों के द्वारा बताया जाता है।)

... न सम्बन्धमतिस्तथा। (वही, ४)

(स) विकल्पात्मक (अर्थात् भ्रान्त) ज्ञान के कारण पदार्थ परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।... विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्था घटितानिव। (वही, १७)

(र) सम्बन्ध कल्पना–निर्मित है। ... सम्बन्ध: कल्पनाकृत:। (प्र.३.२३८)

(ल) कल्पनानिर्मित सम्बन्ध में वे दोष नहीं हैं जो उसे सत्य व नित्य मानने में आते हैं।
...सम्बन्धे नायं दोषो विकल्पते (वही, २३४)।

उपर्युक्त स्थापनाओं के समर्थन में आचार्य धर्मकीर्ति के द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

१. सम्बन्ध को सम्बन्धियों पर आश्रित माना जाता है और जब स्वयं सम्बन्धी अथवा पदार्थ ही नित्य नहीं बल्कि अनित्य है तब उन पर आश्रित सम्बन्ध कैसे नित्य हो सकता है[३]?

२. नित्य तत्त्व किसी का किसी भी प्रकार उपकार नहीं कर सकता[४] क्योंकि वह कूटस्थ निष्क्रिय आदि माना जाता है। सम्बन्ध यदि नित्य है तो वह सम्बन्धियों से जुड़ कर उनका उपकार करे यह संभव नहीं है और बिना सम्बन्धियों से जुड़े सम्बन्ध का कोई स्वरूप नहीं बनता। अतः सम्बन्ध की सार्थकता इसी में है कि उसे अनित्य माना जाये।

३. पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता है इस पर पूर्वोत्तर पक्ष एकमत हैं। अतः यदि इन सत् पदार्थों को सम्बन्ध के अधीन माना जाएगा तो पदार्थों के स्वतंत्र स्वरूप की हानि होगी[५]।

४. सम्बन्ध यदि एक संस्कार–विशेष है[६] जो दो सम्बन्धियों या पदार्थों में पहले नहीं था, परस्पर सम्बद्ध होने के बाद उसमें आया, तो इस व्याख्या से सम्बन्ध स्वयं ही अनित्य सिद्ध हो जाता है क्योंकि जिस वस्तु में वह संस्कार पड़ा है, उस वस्तु के नष्ट होने पर वह संस्कार स्वतः ही नष्ट हो जाएगा।

५. यदि सम्बन्धियों की उत्पत्ति के साथ ही उनमें सम्बन्ध की भी उत्पत्ति हो जाती है तो वस्तुओं में पूर्वापर क्रम या अवस्था ही नहीं बन पाएगी। नित्य होने के कारण सभी अवस्थाओं में सम्बन्ध का एक रूप होना आवश्यक है। वस्तुओं में पौर्वापर्य मानने पर सम्बन्ध को अपना एक स्वभाव छोड़ कर दूसरा स्वभाव धारण करना पड़ेगा जो कि नित्य तत्त्व के लिए सम्भव नहीं है[७]।

६. सम्बन्ध का जैसा स्वरूप स्वीकार किया जाता है उसके अनुसार उसे आश्रयों–सम्बन्धियों– से सम्बद्ध होकर ही नित्य होना चाहिये। किन्तु प्रश्न यह है कि आश्रय के नष्ट होने पर सम्बन्ध का क्या होगा? इस प्रसंग में व्यक्ति व जाति का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर भी जाति नित्य बनी रहती है उसी प्रकार सम्बन्धियों के नष्ट होने पर भी सम्बन्ध अविनष्ट रहेगा। किन्तु यह समाधान इसलिए संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर जाति के प्रसंग में व्यक्ति और सम्बन्ध के प्रसंग में सम्बन्धियों का नैरर्थक्य उपस्थित होगा[८]।

७. जाति के प्रसंग में व्यक्ति और सम्बन्ध के प्रसंग में सम्बन्धियों को यदि अभिव्यक्ति का सहकारी कारण कहा जाता है, जैसा कि अभिव्यक्ति में दीप—प्रकाश सहकारी कारण है, तो यह समाधान भी संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता क्योंकि नित्य माना जाने वाला पदार्थ अविशेष होता है उसमें विशेष का आधान सम्भव नहीं[९]।

८. सम्बन्ध के स्वरूप में आश्रय या सम्बन्धियों की कोई सार्थक भूमिका न होने पर भी यदि आश्रय को नित्य तत्त्व से जोड़ा जाता है तब तो कोई भी अनुपकारी पदार्थ किसी भी नित्य तत्त्व का आश्रय बनने लगेगा[१०]।

९. सम्बन्ध को नित्य सिद्ध करने में उसका पराश्रित स्वरूप ही बाधक है। पराश्रित सम्बन्ध न केवल अपनी स्वयं की पदार्थता को संदिग्ध बनाता है अपितु सम्बन्धियों अथवा पदार्थों की स्वतंत्रता और नित्यता को भी विकृत करने की ओर उन्मुख होता है। क्योंकि स्वतंत्र व नित्य कहा जाने वाला पदार्थ दूसरे से यथार्थतः कदापि श्लिष्ट नहीं हो सकता[११]।

१०. परतंत्रता सम्बन्ध का स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि सिद्ध और स्वात्मनिष्ठ पदार्थों को सम्बन्ध के अधीन मानना असंगत है[१२]।

११. रूपश्लेष भी सम्बन्ध का स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि भिन्न—भिन्न प्रकृति वाले दो पदार्थों में स्वतंत्र पदार्थ के रूप में सत्य कहा जाने वाला सम्बन्ध कैसे रहेगा जिसकी स्वयं की प्रकृति अन्य दो से भिन्न है[१३]।

१२. अपेक्षा भी सम्बन्ध का स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि पदार्थ की सत्ता के क्षण में सम्बन्ध असत् है। अतः प्रथम क्षण में असत् सम्बन्ध पदार्थों या सम्बन्धियों की अपेक्षा कैसे करेगा? पदार्थों के प्रादुर्भाव से पूर्व ही यदि सम्बन्ध सत् है तो, उसके पूर्ण स्वरूप में स्थित रहने के कारण, उसमें किसी प्रकार की अपेक्षा मानना अनुचित है[१४]।

१३. दो का एक होना यदि सम्बन्ध है और वह दो सम्बन्धियों से भिन्न तीसरी स्वतंत्र सत्ता है तो इस पदार्थान्तर को पुनः सम्बन्धियों से सम्बन्ध करने में अनवस्था दोष स्पष्ट है[१५]।

१४. स्वतंत्र तत्त्व स्वात्मनिष्ठ होता है। पदार्थ और सम्बन्ध स्वतंत्र व स्वात्मनिष्ठ होने के कारण केवल कल्पना में एक हो सकते हैं, यथार्थ में नहीं[१६]।

१५. दो पदार्थों को परस्पर सर्वथा भिन्न मानें अथवा अभिन्न, दोनों ही स्थितियों में यथार्थतः सम्बन्ध असंभव है[१७]।

१६. सम्बन्ध का जो स्वरूप बताया जाता है उसमें सम्बन्धी व सम्बन्ध में उपकार्य—उपकारकभाव आवश्यक है किन्तु तीनों में कोई किसी का उपकार्य या उपकारक नहीं हो सकता[१८]।

१७. सम्बन्ध और सम्बन्धियों में वाच्य–वाचकभाव मानने पर प्रश्न उठता है कि इनमें वस्तुत: भेद है या अभेद? भेद मानने पर वाच्य–वाचक सम्बन्ध व सम्बन्धी की प्रतीति अलग–अलग होनी चाहिये; और भिन्न–भिन्न प्रतीति अथवा ज्ञान का अर्थ है कि वस्तु स्वतंत्र व निराश्रित है। इस स्थिति में सम्बन्ध को सम्बन्धियों पर या सम्बन्धियों को सम्बन्ध पर आश्रित नहीं किया जा सकेगा और इस प्रकार सम्बन्ध के स्वरूप की हानि होगी[१९]।

सम्बन्ध व सम्बन्धियों में अभेद मानने पर, प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण, सम्बन्धी ही वस्तु–सत् सिद्ध होंगे, सम्बन्ध की स्वतंत्र सत्ता की हानि होगी[२०]।

तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि सम्बन्ध को सम्बन्धियों से न भिन्न माना जाए और न ही अभिन्न। किन्तु ऐसे विकल्प के बारे में धर्मकीर्ति का स्पष्ट मत है कि भेद अथवा अभेद मानने के अतिरिक्त तीसरा कोई विकल्प सम्भव ही नहीं है। किसी नित्य वस्तु में परस्पर विपरीत स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते[२१]।

सम्बन्ध के खण्डन में उपर्युक्त युक्तियाँ प्रस्तुत करने के साथ ही इसके कुछ विशिष्ट प्रकारों पर भी आचार्य ने कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से विचार किया है तथा उन्हें कहीं क्षणभंगवादी दृष्टि से व कहीं तटस्थ दृष्टि से अस्वीकृत किया है–

१८. क्षणभंगवादी दृष्टि से क्रिया–कारक में यथार्थ सम्बन्ध को अस्वीकृत करते हुए आचार्य युक्ति देते हैं कि क्रिया के क्षण में कारकों की तथा कारकों के क्षण में क्रिया की सत्ता असम्भव है। अत: यह सम्बन्ध काल्पनिक है, वास्तविक नहीं[२२]।

१९. कार्यकारणभाव पर आचार्य ने अपेक्षाकृत विस्तार से (सं.प. ७–१७) विचार किया है। इस विचार में धर्मकीर्ति की स्थापना यह है कि लोक–व्यवहार में कार्यकारणभाव के रूप में जाना जाने वाला सम्बन्ध यथार्थत: (परमार्थत:) सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि

(अ) सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। द्विष्ठता के लिए सहभाव आवश्यक है। किन्तु कार्य व कारण में सहभाव नहीं है। कारण–क्षण में कार्य और कार्य–क्षण में कारण का अभाव है[२३]।

(ब) कारण व कार्य में क्रमश: सम्बन्ध का रहना माना जाए तब भी सम्बन्ध एक में रहते हुए दूसरे के प्रति निस्पृह रहेगा, जिसका तात्पर्य होगा कि एक में रहते हुए और दूसरे से निरपेक्ष रहते हुए भी सम्बन्ध मानना होगा जिससे उसके द्विष्ठतारूप की हानि होगी। इसके साथ ही यदि एक में रहने पर भी ''सम्बन्ध'' को सम्बन्ध कहा जा सकता है तो एक में न रहने पर भी ''सम्बन्ध'' को सत्य कहा जा सकता है जो व्यवहारमात्र होगा, परमार्थ नहीं[२४]।

(स) सम्बन्ध, कारण व कार्य में से कोई किसी का भी उपकारी नहीं हो सकता। कारण

व कार्य–दोनों के बिना सम्बन्ध असत् है और असत् किसी नित्य पदार्थ (सम्बन्धी, कारण या कार्य) का उपकार नहीं कर सकता[२५]।

(द) कार्य को अवयवी और तंत्वादि को समवायी कारण द्वारा उपकारक कहने का पूर्वपक्ष का प्रस्ताव अस्वीकृत करते हुए धर्मकीर्ति युक्ति देते हैं कि इस व्याख्या में भी कार्योत्पत्तिकाल में कारण समवायी नहीं है क्योंकि जननकाल में कार्य असिद्ध है और जन्म के बाद उसमें समवायिकारणत्व आने का कोई प्रमाण नहीं है। अन्यथा कुंभकार आदि का भी घटोत्पत्ति से समवाय सम्बन्ध होने लगेगा। यदि नहीं, तो अनुपकारी होने पर भी समवाय मानने पर समस्त विश्व ही परस्पर समवायी सिद्ध होने लगेगा[२६]।

(य) सम्बन्ध को एक पदार्थ मान कर, उससे सम्बद्ध होने के फलस्वरूप कार्य व कारण में कार्यकारणता है तो द्वित्व संख्या, परत्व–अपरत्व, विभाग आदि के सम्बन्ध से, द्वित्व होने के कारण, किसी पशु के दाँये–बायें दो सींगों में भी कार्यकारणता होने लगेगी[२७]।

(र) कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न होने पर कार्य का न होना मात्र इसी व्यवस्था को कार्यकारणभाव कहा जाता है। यही कार्यबुद्धि है। कारण व कार्य के अतिरिक्त कार्यकारणभाव कोई तीसरी सत्ता नहीं है। कार्यविषयक शब्दोल्लेख या वचन केवल व्यवहार के लिए है क्योंकि शब्दोल्लेख के बिना भी कार्यकारण का भाव अपनी जगह रहता है; जैसे, गाय के लिए प्रयुक्त सास्नादि शब्द–संकेतों का व्यवहार हुए बिना भी गाय, गाय ही होती है[२८]।

(ल) कार्य व कारण कहे जाने वाले पदार्थ परस्पर भिन्न हों या अभिन्न, दोनों ही स्थितियों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध की उन दोनों (कारण व कार्य) से पृथक् सत्ता नहीं है[२९]।

२०. संयोग के उत्पत्तिशील होने से संयोगी (दोनों सम्बन्धियों) में क्रिया आवश्यक है। क्रिया मानने पर उसकी भी संयोगिता होगी। इस प्रकार अनवस्था का दोष स्पष्ट है[३०]।

२१. शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। शब्द स्वयं कल्पना मात्र है। शब्द को वर्णों का समुदाय कहा जाता है किन्तु क्रमिक समुदायियों से भिन्न समुदाय की कहीं उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार कल्पित शब्दों के आधार पर पद, वाक्यरूप समुदाय की कल्पना भी कल्पना मात्र ही है। अत: जब शब्द स्वयं कल्पनामात्र अर्थात् अवास्तविक सिद्ध होता है तो उसमें रहने वाला सम्बन्ध कैसे वास्तविक हो सकता है? शशविषाण में नीलादि की कल्पना कल्पनामात्र है, वस्तु सत् नहीं[३१]।

विवेचन एवं निष्कर्ष

सम्बन्ध का सिद्धान्त दर्शन जगत् की क्लिष्ट और श्लिष्ट समस्याओं में से एक है। तत्त्वमीमांसीय समस्याओं से जुड़ा होने के कारण यह विषय और भी जटिल हो जाता है। सम्बन्ध की व्यावहारिक सत्ता जितनी निर्विवाद है उतनी ही विवादास्पद इसकी पारमार्थिक सत्ता और नित्यता है। सत्य, नित्य, भ्रान्त आदि की अवधारणाएँ प्रत्येक दर्शन--सम्प्रदाय में भिन्न–भिन्न हैं। अतः सम्बन्ध के विचार में इन शब्दों के प्रयोग का अर्थ भी तदनुसार भिन्न–भिन्न हो जाता है।

धर्मकीर्ति के सम्बन्ध–विवेचन की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने न केवल क्षणभंगवादी बौद्ध दृष्टि से अपितु तटस्थ (और पूर्वपक्ष की) दृष्टि से भी गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए इसके प्रतिषेध में यथोचित और पर्याप्त युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम दृष्टि का प्रयोजन सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिषेध है तथा द्वितीय दृष्टि न्याय–सम्मत सम्बन्ध की अवधारणा में विसंगतियों को उद्घाटित करने का प्रयास करती है। इन दोनों दृष्टियों से परीक्षा करने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्बन्ध न केवल क्षणभंगवादी दृष्टि से असंभव है अपितु पूर्दपक्ष की दृष्टि से भी वह स्वतंत्र सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी स्तर पर इसका स्वरूप सम्बन्धियों से निरपेक्ष नहीं है।

न्याय मत के खण्डन में धर्मकीर्ति ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की है उनमें कहीं कुतार्किकता या दुराग्रह दिखाई नहीं देता। इन युक्तियों में से कुछ की मौलिकता संदिग्ध हो सकती है क्योंकि अन्य दर्शन–ग्रन्थों में भी इसी तरह की युक्तियाँ मिलती हैं।

धर्मकीर्ति ने सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप के खण्डन द्वारा उसके विशेष प्रकारों का प्रतिषेध किया है। इसी के अन्तर्गत क्रियाकारक, कार्यकारण, वाच्यवाचक या शब्दार्थ, जाति, संयोग समवाय आदि सम्बन्धों की आलोचना की गई है। यह आलोचना अचेतन से अचेतन के सम्बन्ध पर विचार तक सीमित है। जबकि चेतना से चेतन का सम्बन्ध भी दर्शन का गंभीर प्रश्न है! किन्तु आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रस्तुत प्रसंग में इस पर विचार करना संभवतः इसलिये आवश्यक नहीं समझा कि पूर्वपक्ष ने सम्बन्ध का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, उसकी सीमा में ऐसा ही संभव था। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप पर क्षणभंगवादी और तटस्थ दृष्टियों से विचार किया गया है किन्तु जहाँ तक विशेष प्रकारों की आलोचना का प्रश्न है वह केवल क्षणभंगवादी दृष्टि से की गई प्रतीत होती है, तटस्थ दृष्टि से नहीं।

धर्मकीर्ति के सम्बन्धविषयक विवेचन को विधेयात्मक और निषेधात्मक दृष्टि से देखने पर लगता है कि उनकी अधिकांश युक्तियों का लक्ष्य यह बताना है कि सम्बन्ध क्या नहीं

है किन्तु वह क्या है यह बताने से वे विमुख है। और शायद यह उचित भी हो क्योंकि जब वे उसकी सर्वविध सत्ता का ही निषेध करते हैं तो उसके स्वरूप की व्याख्या का प्रश्न स्वत: ही अप्रासंगिक हो जाता है। किन्तु यहाँ धर्मकीर्ति के दो वक्तव्यों का उल्लेख आवश्यक है–

१. सम्बन्ध कल्पना है।

२. कल्पित सम्बन्ध में वे दोष नहीं आते जो नित्य व सत्य मानने में आते हैं।

ये वक्तव्य ऐसा आभास देते हैं कि धर्मकीर्ति सम्बन्ध को विधेयात्मक रूप में भी मानना चाहते हैं। यदि वे सम्बन्ध को (शशविषाणकी तरह) सर्वथा असत् मानते होते तो उसे दोष–शून्य कहने का कोई औचित्य नहीं रहता। जहाँ तक कल्पना का प्रश्न है स्वयं उन्हीं के मत में वह ऐसी प्रतीति है जिसमें वाचक शब्द से संसर्ग–योग्य आभास होता है। इस लक्षण के अनुसार कर्ता, क्रिया, गुणी, अवयवी, समवायी, आदि कल्पनाएँ ही हैं। दूसरे शब्दों में सभी विकल्प ज्ञान, अभिधेय पदार्थ और व्यवहार कल्पना है। कल्पना के फलस्वरूप ही लोक में विविध भ्रान्तियाँ होती हैं जिससे लोकव्यवहार चलता है। इसी प्रकार काल्पनिक प्रतीतिरूप सम्बन्ध भी लोकव्यवहार का संचालक बन जाता है।

धर्मकीर्ति जब कहते हैं कि सम्बन्ध सत्य नहीं है तब इस वक्तव्य के, दो दृष्टियों से, दो अर्थ किये जा सकते हैं। क्षणभंगवादी दृष्टि से इसका अर्थ है कि सम्बन्ध क्षणिक सत् भी नहीं है जैसा कि विज्ञान है। दूसरा अर्थ तटस्थ दृष्टि से यह होगा कि सम्बन्ध वैसा सत्य भी नहीं है जैसा कि वस्तुवादी नैयायिक मानते हैं।

इसी प्रकार जब वे सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिषेध करते हैं तब इसके भी दो आशय स्पष्ट हैं– क्षणभंगवादी दृष्टि से इसका अर्थ है कि जब कोई भी तत्त्व नित्य नहीं है तो सम्बन्ध ही नित्य कैसे कहा जा सकता है? तटस्थ दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि सम्बन्ध वैसा नित्य तत्त्व भी नहीं हो सकता है जैसा कि नित्यतावादी इसे मानते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में, कहा जा सकता है कि क्षणभंगवादी दृष्टि से सम्बन्ध की सत्यता ही मुख्यत: विचारणीय है क्योंकि क्षणभंगवाद सामान्य स्थापनाओं में किसी भी तत्त्व की नित्यता का विचार ठुकरा चुका है। सम्बन्ध के प्रसङ्ग में तो उसे इसकी क्षणिक सत्ता पर ही केवल विचार करना है।

धर्मकीर्ति के मत में सत् वह है जो अर्थक्रियाकारी हो। अर्थक्रियाकारी क्षणिक ही हो सकता है, नित्य नहीं। अत: सम्बन्ध न सत्य है और न ही नित्य। यहाँ सहज ही जिज्ञासा होती है कि क्या धर्मकीर्ति की अपनी दृष्टि से सम्बन्ध क्षणिक सत् हो सकता है? इसका उत्तर भी निषेधात्मक ही है क्योंकि क्षणिक क्रियाशून्य होता है और सम्बन्ध के लिए सम्बन्धियों व सम्बन्ध में परस्पर जुड़ने के लिए क्रिया अपरिहार्य है। क्रिया के लिए कर्ता, क्रर्म आदि

अपेक्षित हैं जिन्हें भी धर्मकीर्ति कल्पना या भ्रान्ति मानते हैं। तब इन भ्रान्त प्रतीतियों के आधार पर होने वाला सम्बन्ध भी भ्रान्त ही माना जाए यह स्वाभाविक है।

न्याय–मत में समवाय नित्य सम्बन्ध है और संयोग अनित्य सम्बन्ध। अर्थात् न्याय संयोग की नित्यता न मानते हुए सत्यता तो मानता ही है, क्योंकि संयोग पर सम्बन्ध का लक्षण घटित होता है। अत: धर्मकीर्ति ने सम्बन्ध के लिए क्रिया की जो अनिवार्यता बतायी है वह संयोग पर भी लागू होनी चाहिये। किन्तु सम्बन्ध में क्रिया सम्भव नहीं, इसलिए संयोग भी सम्बन्ध नहीं है।

वस्तु (सम्बन्ध) को नित्य माना जाए या क्षणिक दोनों ही स्थितियों में उस में क्रिया मानना आवश्यक है। दो सम्बन्धी पदार्थ अपने क्षणिक या नित्य स्वरूप में स्थिर रहते हुए बिना क्रिया किये कैसे संश्लिष्ट हो सकते हैं?

सम्बन्ध को स्वतन्त्र पदार्थ मानने पर उसके ज्ञान का प्रश्न भी अत्यन्त गम्भीर है। क्षणभंगवादी दृष्टि से लोक–व्यवहार में भी जिस प्रकार घट आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है उसी प्रकार सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सम्बन्ध प्रत्यक्ष का नहीं, विकल्प ज्ञान का विषय है। अत: वह क्षणिक सत् भी नहीं है।

सम्बन्ध को सत्य मानने में एक बड़ी बाधा यह है कि इसके लिए पदार्थों के बहुत्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है। पदार्थों का बहुत्व सत्य है या नहीं यह स्वतन्त्र विचार का विषय है। तथापि सम्बन्ध के सापेक्ष अथवा पराधीन स्वरूप से इन्कार नहीं किया जा सकता और स्वतन्त्र तत्त्व सापेक्ष नहीं हो सकता।

अनेक का एक साथ रहना (द्विष्ठता) और पुन: उस एक का स्वतन्त्र भी रहना अनेक दोषों को आमन्त्रित करता है और इस प्रकार स्वरूप सम्बन्ध को असम्भव बना देता है। किन्तु सम्बन्ध को कल्पना मानने में यह दोष इसलिये नहीं है कि कल्पना बिना किसी विसंगति के अनेक को अपने में समाविष्ट कर सकती है।

सम्बन्ध वेदान्तियों के ब्रह्म, शैवों के शिव, न्याय वैशेषिक के द्रव्य, विज्ञानवादियों के क्षणिक विज्ञान आदि की तरह परमार्थ सत्य नहीं है। वह घटादि की तरह बाह्य सत्य भी नहीं है। किन्तु दूसरी ओर वह शशविषाण, वन्ध्या–पुत्र, आकाश–कुसुम, द्विचन्द्र आदि की तरह सर्वथा असत् भी नहीं माना जा सकता। काल्पनिक रूप में ही सही, उसकी प्रतीति को स्वयं धर्मकीर्ति ने स्वीकार किया है। इसलिये प्रतीति मात्र को सत्य की अनुभूति मानने वाले दृष्टिकोण से विचार करने पर ही सम्बन्ध को सत्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। वस्तु की प्रतीति को सत्य मानना उस विज्ञानवाद की दृष्टि से अत्यधिक प्रतिकूल नहीं है जो समस्त जगत् को विज्ञान का आभास मानता है[३२]।

सन्दर्भ-

१. द्रष्टव्य– शास्त्री, श्रीनिवास, न्यायबिन्दु भूमिका।
२. सम्पादक, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्रभाचन्द्र व्याख्या सहित, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७२.
३. सम्बन्धिनामनित्यत्वान्न सम्बन्धोऽस्ति नित्यता। प्र. ३.२३२
४. नित्यस्यानुपकार्यत्वात्...। वही।
५. सद् द्रव्यं स्याद् पराधीनं सम्बन्धोऽन्यस्य वा कथम्। वही, ३.२३९.
६. अर्थैरत: स शब्दानां संस्कार्य: पुरुषैर्धिया। वही, ३.२३३
७. अर्थैरेव सहोत्पादे न स्वभावविपर्यय:। वही।
८. नित्यत्वादाश्रयापायेऽप्यनाशो यदि जातिवत्। वही। ३.२३४
९. वही, ३.२३५–६.
१०. नित्येष्वाश्रय सामर्थ्यं किं येनेष्ट: स चाश्रय:। वही, ३.२३५.
११. वही, ३.२३९.
१२. पारतंत्र्यं हि सम्बन्ध: सिद्धे का परतन्त्रता। सम्बन्ध पृ. १.
१३. वही, २।
१४. वही. ३
१५. वही, ४
१६. वही, ५
१७. प्र., ३.२३७
१८. वही, ३.२३८
१९. वही, ३.२३७
२०. सं.प. ६
२१. वही, ७
२२. वही, ८.
२३. वही, ९
२४. वही, २०—२१
२५. वही, १०.
२६. वही, १५
२७. वही, १६.१८
२८. वही, २२
२९. प्र, ३.२३९—४०
३०. न्यायबिन्दु, १५
३१. सं.प., २२
३२. अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के विशाखापत्तनम् अधिवेशन (जनवरी, १९८९) में प्रस्तुत निबन्ध।

डॉ० राधाकृष्णन् और बौद्ध मत

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का गहन अध्ययन, विश्लेषण और पाश्चात्य दर्शनों से उनकी युक्तियुक्त तुलना में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की प्रतिभा अद्वितीय है। भारतीय दर्शन के मौलिक तत्त्वों का उनका अनुसंधान न केवल गंभीर अपितु व्यापक और प्रामाणिक भी है। सामान्यतया उन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शन–सम्प्रदायों के इतिहास एवं सिद्धान्तों के गूढ़ तत्त्वों को अपनी विशिष्ट शैली में उजागर किया है किन्तु बौद्धमत के प्रति उनका विशेष आकर्षण धम्मपद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ से, कुछ स्वतन्त्र लेखों से तथा भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ में बौद्धमत पर तीन अध्यायों (पृष्ठ २३०) के समावेश से स्वत: ही सिद्ध हो जाता है। यह लेख मुख्यरूप से इन्हीं में व्यक्त उनकी टिप्पणियों एवं निष्कर्षों को सार रूप में प्रस्तुत करता है।

राधाकृष्णन् ने बौद्ध मत के अध्ययन को नैतिक आदर्श प्रत्ययवाद, धर्म और विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विभाजित किया है जिनके अन्तर्गत उन्होंने बुद्ध, बौद्धमत का प्रादुर्भाव, धर्म-दर्शन के रूप में उसका विकास, अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों से तुलना, योगदान ह्रास के कारण आदि बिन्दुओं पर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से प्रकाश डाला है।

भारत में बुद्ध और बौद्ध मत के प्रादुर्भाव का कारण, प्रो० राधाकृष्णन् के मत में, तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ थीं। अनेक छोटे-छोटे गणराज्य, जातियों, भाषाओं का वैविध्य, दृढ़ धार्मिक नियमों का अभाव, नैतिक जीवन में शैथिल्य, अध्यात्मविद्या की सूक्ष्म समस्याओं और पारमार्थिक संवादों में बौद्धिक क्षमता का अपव्यय तथा षड् दर्शन के सिद्धान्तों की अपरिपक्वता आदि ने समाज में स्वच्छन्दता को प्रश्रय दे रखा था जिसके फलस्वरूप परस्पर विरोधी विचार और साधना, कल्पना और तपस्या की पद्धतियाँ अपना सीमित प्रभाव स्थापित कर रही थीं। अस्त-व्यस्त कल्पनाओं, असंगत परमार्थविद्याओं, अनिश्चित वितण्डावादों और वाक्कलहों से परिपूर्ण इस समाज के समक्ष, रहस्यमय पवित्र ग्रन्थ वेदों के रहते हुए भी, कोई एक सर्वमान्य सत्य या सिद्धान्त नहीं था। उपनिषदों के नाना निर्माताओं और अनेक विचारकों के समक्ष बुद्ध एक विनम्र, किन्तु दृढ़ और विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अध्यात्मशास्त्र से परे नीति शास्त्र का सशक्त व आकर्षक सिद्धान्त लेकर उपस्थित हुए।

बुद्ध का व्यक्तित्व 'न भूतो न भविष्यति' जैसा था। धार्मिक त्याग, उच्च आदर्शवाद, जीवन की कुलीनता, मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम, करुणा आदि सद्गुणों के साथ आर्यसत्य और

अष्टाङ्गमार्ग के उनके जीवन-सूत्रों ने उनके व्यक्तित्व और सिद्धान्त को मानव-जाति के इतिहास व संस्कृति की विलक्षण क्रान्तिकारी घटना बना दिया। डॉ० राधाकृष्णन् के मत में बुद्ध इस अर्थ में हेतुवादी नहीं थे जिसके अन्तर्गत धार्मिक विश्वासों को नष्ट करने के लिए तर्क की मानसिक प्रवृत्ति समाविष्ट है तथा जो निषेधात्मक परिणामों तक पहुँचाती है बल्कि इस अर्थ में उन्हें हेतुवादी कहा जा सकता है कि वे यथार्थ सत्ता का अध्ययन एवं अनुभव बिना किसी ईश्वरीय प्रेरणा को स्वीकार किये करना चाहते थे। बुद्ध की देशना-पद्धति राधाकृष्णन् की दृष्टि में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति थी जिसके द्वारा वे किसी को मोक्ष या निर्वाण दिलाते नहीं थे बल्कि उसमें स्वयं में मोक्ष पाने की सामर्थ्य उत्पन्न करते थे।

डॉ० राधाकृष्णन् के विचार में बुद्ध कोई समाज-सुधारक नहीं थे। उन्होंने अनुभव किया था कि दु:ख का स्वार्थपरता के साथ गठबन्धन है और इसलिये उन्होंने नैतिक एवं मानसिक अनुशासन का उपदेश दिया। बुद्ध का पूरा उत्साह दूसरे लोक के प्रति था। इस लोक पर आधिपत्य के लिए कोई उद्दीप्त उत्साह उनमें नहीं था जिसकी कि एक समाज-सुधारक को अपेक्षा होती है। बुद्ध के योगदान को रेखाङ्कित करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् मानते हैं कि बुद्ध के प्रति नितान्त विपरीत धारणा रखने पर भी हम यह मानने के लिए बाध्य हैं कि बुद्ध ने एक ऐसे प्रचलित किस्म के धर्म का उच्छेद किया जो अधिकतर कायर पुरुषों के भय एवं शक्ति की पूजा पर आश्रित था और ऐसे धर्म को सुदृढ़ किया जो न्याय-निष्ठा पर विश्वास रखता था। बुद्ध पर विरोधाभासपूर्ण स्थितियों के आरोपों का भी डॉ. राधाकृष्णन् ने युक्ति युक्त उत्तर दिया है। वे कहते हैं– हमें उस बुद्ध का अनुसरण करना है जो संसार के नेत्र हैं और हमारा आदर्श हैं, वह जो हमारे लिए पूर्णता के मार्ग को प्रकाशित करता है जो स्वयं को एक जिज्ञासु के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता एवं जिसने सत्य मार्ग की खोज की, उसे सभी के लिए सम्भव बना दिया, वही एक मात्र हमारा शरणस्थान है एवं जनसाधारण के देवता के समान है।

डॉ० राधाकृष्णन् के विश्लेषण के अनुसार प्राचीन बौद्ध धर्म के विचार-कण गंगोत्री के जल की भाँति पावन और शीतल हैं। यह धर्म एक ऐसे दर्शन की रूपरेखा तैयार करता है जो वर्तमान काल की क्रियात्मक माँगों की पूर्ति के सर्वथा अनुकूल है। धार्मिक विश्वास और भौतिक विज्ञान के मध्य प्रतीत होने वाले विरोध में समन्वय स्थापित करता है। किन्तु इस दूसरी विशेषता का परवर्ती बौद्ध मत में अभाव–सा है। प्रारम्भिक बौद्धमत उन्नीसवीं शताब्दी के उन्नत वैज्ञानिक विचारों के साथ अद्‌भुत रूप में मिलता-जुलता है। पाश्चात्य दर्शन से इसकी तुलना के सन्दर्भ में उनका निष्कर्ष यह है कि जर्मनी का आधुनिक निराशावादपरक दर्शन जिसके प्रतिपादक शॉपेनहॉवर एवं हॉर्टमान हैं, प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की पुनरावृत्तिमात्र है। बर्गसां के रचनात्मक विकास के सिद्धान्त से बहुत पहले ही बौद्ध दर्शन ने यर्थाथसत्ता के गत्यात्मक विचार की सुन्दररूप में भविष्यवाणी कर दी थी।

प्रारम्भिक बौद्ध मत के मूल आधार ग्रंथ पिटकों, मिलिन्दपञ्ह, विसुद्धिमग्ग अत्थसालिनी, दीपवंश एवं इन पर लिखी हुई कट्टर टीकाओं को बताते हुए डॉ० राधाकृष्णन् की मान्यता है कि बौद्ध धर्म अनिवार्यरूप से मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का समुच्चय है। उसके मौलिक स्वरूप में अध्यात्मशास्त्र सन्निविष्ट नहीं था, इसे बाद में जोड़ा गया। इस धर्म ने परमेश्वर से ध्यान हटाकर मनुष्य-सेवा की ओर हमें आकृष्ट किया। इस प्राचीन बौद्ध मत की तीन विशेषताएँ थीं–

१. एक प्रकार की नैतिक तत्परता

२. परमार्थविद्या-सम्बन्धी प्रवृत्ति का अभाव

३. अध्यात्मशास्त्र–सम्बन्धी कल्पना के प्रति अरुचि अथवा उससे विमुखता।

बौद्ध धर्म के नीतिशास्त्र पर टिप्पणी करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि इसका आधार मनोविज्ञान है। अष्टाङ्ग मार्ग में इस मत के नैतिक जीवन का सार निहित है। यह सामाजिक होने की अपेक्षा वैयक्तिक अधिक है। बौद्ध धर्म के नीतिशास्त्र पर बुद्धिवाद और त्यागमय जीवन की शिक्षा आदि दोषारोपों का वे युक्तियुक्त उत्तर देते हुए इन्हें निरर्थक सिद्ध करते हैं। जहाँ तक बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक शास्त्र का प्रश्न है उनका मत है कि वह उसी अवस्था में सन्तोषप्रद एवं बुद्धिगम्य हो सकता है जब उसमें परम आदर्शवाद के द्वारा पूर्णता लायी जा सके।

डॉ० राधाकृष्णन् हीनयान को बौद्ध मत के प्रामाणिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का तर्क–सम्मत विकास मानते हैं। उनके विचार में यह एक वर्गविहीन धर्म है जो सिद्धान्त के रूप में तो ईश्वर का निराकरण करता है किन्तु क्रियात्मकरूप में बुद्ध की पूजा की अनुज्ञा दे देता है। इसके विकास के समस्त सोपानों का अवलोकन-विश्लेषण करने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमूर्त एवं शुष्क भावात्मक तथा निषेधपरक प्रवृत्तियों के कारण हीनयान निर्जीव विचारों एवं आत्मा के कारागार का ही स्वरूप रह गया। इसने मनुष्य की आत्मा की किसी अभ्यन्तर सत्ता की खोज में रहने वाली प्रवृत्ति की ओर से एक दम विमुख होकर मनुष्य के धार्मिक पक्ष के प्रति अन्याय किया। इसका दार्शनिक अनीश्वरवाद सन्दूक में बन्द अस्थिपञ्जर और सुन्दर पुष्प में कैद रुग्ण कीड़े के समान है। हीनयान की इसी अप्रासंगिकता से महायान का प्रादुर्भाव हुआ। हीनयान और महायान के सिद्धान्तों की विस्तार से तुलना करते हुए उन्होंने एक को दाक्षिणात्य तथा दूसरे को उत्तर देशीय धर्म के रूप में विभाजित करने की प्रवृत्ति से असहमति प्रदर्शित की।

बौद्ध मत के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में डॉ० राधाकृष्णन् का एक प्रिय विषय उपनिषद्-विचारों से उसकी तुलना रहा है। उनका दृढ़ मत है कि प्राचीन बौद्ध मत उपनिषदों के विचार की

नये दृष्टिकोण से पुनरावृत्ति मात्र है। उनका अनुमान है कि बुद्ध स्वयं भी इस बात से अनभिज्ञ थे कि उनके सिद्धान्त और उपनिषदों के सिद्धान्त में कोई असंगति है। डॉ० राधाकृष्णन् ने इस प्रसंग में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उपनिषदों की भावना ही बौद्ध धर्म के जीवन-स्रोत के रूप में सतत प्रवहमान रही है। किन्तु दोनों में मौलिक मतभेद का बिन्दु अध्यात्म शास्त्र द्वारा प्रतिपादित आत्मा है। वे इस बात से सहमत हैं कि उपनिषदों में जो स्थान ब्रह्म का है बुद्ध ने वही स्थान धर्म को दिया। ब्रह्मचक्र ही यहाँ धर्मचक्र बन जाता है।

डॉ० राधाकृष्णन् के विचार में बौद्ध मत की मुख्य सफलताएँ और योगदान हैं— एक हजार वर्ष से प्रचलित ब्राह्मण या पौराणिक धर्म की जड़ों को खोखला करके मात्र दो सौ वर्षों की अल्पावधि में बौद्धमत को भारत का राजधर्म बनाना, शरीरधारी ईश्वर की सत्ता माने बिना भी किये गये सत्कर्म को न्यायोचित ठहराना, जातिगत अत्याचारों की शिथिलता, प्राणिमात्र के लिए प्रेम, करुणा तथा भ्रातृभाव का संचार आदि।

बुद्ध और बौद्ध मत के दोषों तथा उसके ह्रास के कारणों के विश्लेषण-क्रम में उनकी ये टिप्पणियाँ अवलोकनीय हैं—

१. बुद्ध की शिक्षा में गहराई की कमी रही तथा एक व्यवस्थित अथवा संगठित स्वरूप का अभाव रहा। उनके विचार असंस्कृत रूपरेखाओं के रूप में ही रह गये जिनमें आन्तरिक सम्बन्ध स्पष्ट न हो सका।

२. बुद्ध की शिक्षा में प्रधान दोष यह है कि उन्होंने अपने नैतिक प्रचार के उत्साह में अर्द्धसत्य को महत्त्व दिया तथा उसे ही पूर्ण सत्य के रूप में प्रतिपादित किया। अध्यात्मविद्या के प्रति अरुचि के कारण बुद्ध इस अनुभव से वञ्चित रहे कि आंशिक सत्य का एक अनिवार्य पूरक भी होता है।

३. जिस अध्यात्मविद्या के विरोध की नींव पर बौद्ध मत खड़ा था अन्त में उसी आधार को उसने गिरा दिया। तपस्वी जीवन एवं आत्मनिग्रह सम्बन्धी सदाचारों की शिथिलता उसके लिए आत्मघाती बन गई।

४. परवर्त्ती बौद्ध धर्म, वैष्णव, शैव आदि हिन्दू सम्प्रदायों से अपना पृथक् स्वरूप बनाए रखने में असमर्थ हो गया।

५. भारतीय सामाजिक जीवन और संगठन में हस्तक्षेप के कारण हिन्दू बुद्ध की व्यवहार-योजना के विरोधी बन गये। वर्ण-व्यवस्था के मूलोच्छेदन के विचार तथा धर्मशास्त्रों के अध्ययन के लिए सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटाने के कारण हिन्दू समाज इसे धर्म-विरोधी सिद्ध करने में जुट गये।

६. ईश्वर की सत्ता का निषेध, मनुष्य में अमरत्व के प्रति निराशा, जीवन की दुःखमयता, जीवन के प्रति प्रेम को सबसे बड़ा पाप स्वीकारना तथा सर्वविध इच्छा के विलोप को मनुष्य–जीवन का लक्ष्य बताना आदि मान्यताएँ इसके निषेधात्मक स्वरूप को स्थापित करने और विधेयात्मक स्वरूप को विकृत करने में सफल रहीं।

७. इस मत के प्रभाव से ब्राह्मण धर्म ने विश्वप्रेम को मान्यता देकर बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित करके इसकी अर्थी उठा दी।

८. भारत में बौद्ध धर्म स्वाभाविकरूप से काल का ग्रास बना। कट्टर एवं हठधर्मी पुरोहितों ने इसे देश से निष्कासित किया–यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्मों की अत्यन्त निकटता के कारण बौद्ध धर्म अपनी पहिचान खो बैठा।

९. बिना किसी समझौते के नैतिक नियमों के प्रति आस्था रखना बौद्ध धर्म की शक्ति का रहस्य है और मानव-प्रकृति के रहस्यमय पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करना उसके पराभव का मुख्य कारण है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने बौद्ध मत के विवेचन में रिज़ डेविड्स के विचारों को विशेषरूप से सम्मान और समर्थन दिया है तथा जिन पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों से इसके विभिन्न पक्षों की कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत तुलना का प्रयास किया है उनमें प्रमुख हैं– सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, ल्यूक्रेशियस, शोपेनहावर, हार्टमान, बर्गसां, ऑल्डनबर्ग, कान्ट, ह्यूम, देकार्त, विलियम जेम्स, बर्टेण्ड रसल, स्टाउट, सेंट फ्रांसिस आदि।

डॉ० राधाकृष्णन् के बौद्ध मत विषयक उपर्युक्त विचार एवं आलोचना उनकी विशेष दर्शन-दृष्टि पर आधारित है। वे दर्शन के जिन चार पक्षों को अनिवार्य मानते हैं। वे हैं गतिशीलता, युगधर्म, जगत् और मानवजीवन की अन्तर्वर्ती एकता तथा मूल्यों से संसर्ग। ये सभी बौद्ध मत में विद्यमान हैं। हिन्दू धर्म के अत्यन्त व्यापक स्वरूप में पूर्ण धर्म-दर्शन का साक्षात्कार करने के कारण बौद्ध मत को हिन्दू धर्म की ही एक शाखा मानना उनके लिए स्वाभाविक था। वे समन्वय को युग की सबसे बड़ी आवश्यकता मानते थे और प्रत्येक मत के सकारात्मक पक्ष पर ही विशेषरूप से ध्यान केन्द्रित करना चाहते थे। इसलिए तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से जितना उन्हें शाङ्कर मत ग्राह्य था उतना ही नैतिक और धार्मिक दृष्टि से बौद्ध मत स्वीकार्य था। सफल नीतिशास्त्र के लिए सुदृढ़ तत्वमीमांसा आवश्यक है और भारतीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में यह शाङ्कर और बौद्धमत के समन्वय से ही आ सकती है और पूर्ण धर्म–दर्शन का स्वरूप सिद्ध कर सकती है। इस समन्वय के बिना भारतीय धर्म-दर्शन एकांगी है, अपूर्ण है। राधाकृष्णन् के दार्शनिक विचारों को स्थिर करने में यही बौद्ध मत का योगदान है।

बौद्ध मत के प्रादुर्भाव और प्रारम्भिक विकास-काल को ही वे उसका स्वर्णकाल मानते हैं तथा बाद में समाविष्ट होने वाली विसंगतियों, समाज से कटी हुई प्रवृत्तियों के कारण उसके परवर्ती स्वरूप को ह्रास मानते हैं। प्रमाणविद्या के क्षेत्र में बौद्ध मत का परवर्ती विकास एवं योगदान यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि मानी जाती है किन्तु डॉ० राधाकृष्णन् अपनी विशेष दर्शनदृष्टि और प्रमाणविद्या के प्रति सप्रयोजन उदासीनता के कारण उसे विकास की श्रेणी में न रखकर एवं उसे मानव के वास्तविक कल्याण के लिए उपयोगी न मानकर बौद्ध मत की प्रमाणमीमांसा के साथ न्याय नहीं करते हैं। फिर भी बौद्ध मत का हिन्दूमत की एक अविभाज्य शाखा के रूप में युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक प्रतिपादन करके उन्होंने न केवल दोनों का अपितु भारतीय चिन्तन की एकता, सार्थकता और पूर्णता का प्रत्यभिज्ञान कराया है।

●

बौद्धदर्शनसम्प्रदायेषु कालविमर्शः

१— बौद्धमतस्य सौत्रान्तिक—वैभाषिक—विज्ञानवादशून्यवादाः चत्वारो दर्शनदम्प्रदायाः सन्ति। एतेषां सर्वेषामपि दर्शनसम्प्रदायानां तत्त्वमीमांसा ज्ञानमीमांसा च विभिन्नाः सन्ति। अतः कालास्तित्वस्वरूपविभागादिविषयेष्वपि तेषां वैमत्यं स्वाभाविकमेव। नागार्जुनेन मध्यमकशास्त्रे वसुबन्धुना अभिधर्मकोशे विज्ञप्तिमात्रतासिद्धौ च, शान्तरक्षितेन च तत्त्वसङ्ग्रहे कालविषयको विचारो विशेषतो विस्तरेण व्याख्यातः। तदेव संक्षेपतोऽत्र प्रस्तूयते।

२— कालवादिभिरुच्यते—

'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।।

अन्यच्च 'प्रत्युत्पन्नातीतानागताः त्रयः काला भावस्वभावनिबन्धना उपदिश्यन्ते। यथा उत्पन्नो निरुद्धो हि भावस्वभाव अतीत इति, उत्पन्नोऽनिरुद्धो हि वर्तमानः, अलब्धात्मभावोऽनागत इति।'

३— माध्यमिकमतम्— कूटस्थकालस्य कालत्रयस्य च सिद्धिर्न भवति प्रमाणाभावात्। अतः माध्यमिकैः तत्खण्डनं युक्त्यागमप्रमाणैः प्रदर्शितम्।

(अ) प्रत्युत्पन्नस्यानागतस्य च सिद्धिरतीतमपेक्ष्य क्रियते चेत् तयोरप्यतीतत्वं प्राप्नोति। यतो हि यत्र यस्य भावस्य सत्ता नास्ति स तत्र तं नापेक्षते। यथा तैलं सिकतां नापेक्षते, पुत्रः वन्ध्यां च नापेक्षते। एवमेव वर्तमानानागते यदि अतीतमपेक्षेते तर्हि ते अतीते काले अतीतवत् स्थास्यतः। एवमेव वर्तमानानागतप्रसङ्गेष्वपि।

(आ) क्षणलवमुहूर्तादिपरिमाणवत्त्वादपि कालस्यास्तित्वं न स्वीकर्तुं शक्यते। यतो हि यन्नास्ति न तस्य परिमाणोऽपि विद्यते यथा खरविषाणस्य। अतः कालाभावात् न कालपरिमाणः।

(इ) कालोऽवस्थितस्वभावः नित्यः स्वीक्रियते चेत् तर्हि क्षणादिभिः स कथं ग्रहीतुं शक्यते? अतः अविद्यमानस्वरूपात् कालः क्षणादिभिरपि न ज्ञाप्यते।

(ई) कालोऽयं संस्कृत—स्वभावोऽसंस्कृतस्वभावो वा? प्रथमे पक्षे उत्पादस्थितिभङ्गानामसिद्धत्वात् कालस्य संस्कृतस्वभावः न सिद्ध्यति, संस्कृतस्वभावाभावात् असंस्कृतस्वभावोऽपि न सिद्ध्यति (मध्यमकशास्त्रे संस्कृतस्वभावपरीक्षा द्रष्टव्या)।

(उ) रूपादीनामेव संस्कारानुपादाय प्रज्ञप्तः कालः क्षणादिपदवाच्यो भवतीत्युक्ते भावस्यास्तित्वं न सिद्धमतः तद्धेतुको कालोऽपि नास्ति।

(ऊ) सहकारिकारणभावात् फलप्रवृत्तौ कालोऽस्ति, यथा चोक्तं भगवता–

'न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि।
सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम्।।

(मध्य. पृ. १६७)

अत्र माध्यमिकानां खण्डनात्मिका युक्तिरस्ति– 'अङ्कुरादिफलस्य प्रवृत्तिरेव नास्ति। अतः कालोऽपि नास्ति।

इत्थं नागार्जुनेन मध्यमकशास्त्रे तस्य प्रसन्नपदायां वृत्तौ च चन्द्रकीर्तिना आगम–युक्तिप्रमाणादिभिः भावस्वभावनिबन्धनात्मकस्य कालत्रयस्य खण्डनं प्रदर्शितम्। लोके प्रत्युत्पन्नादयः काला ये व्यवह्रियन्ते ते तु व्यवहारमात्रं यथोक्तं भगवता बुद्धेन ''पञ्चेमानि भिक्षवः संज्ञामात्रं प्रतिज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं संवृतिमात्रम् यदुत अतीतोऽध्वा आकाशो निर्वाणं पुद्गलश्च'' इति।।

४– सौत्रान्तिकमतम्

सौत्रान्तिकमते प्रत्युत्पन्नस्यैव सत्यत्वं नान्यस्य। ते हि अतीतानागतयोर्काल्पनिकत्वं कल्पयन्ति। युक्तिश्च तेषामस्ति 'केवलं प्रत्युत्पन्न एव कालः फलोत्पत्तौ समर्थः, न पुनश्चातीतः न चानागतः।

५– सर्वास्तिवादः

कः सर्वास्तिवादः बौद्धदर्शनस्य प्राचीनः सम्प्रदायोऽस्ति। एभिः त्रिकालस्यास्तित्वं स्वीक्रियते, अतस्ते सर्वास्तिवादिन उच्यन्ते– 'ये हि सर्वमस्तीति वदन्ति अतीतमनागतं प्रत्युत्पन्नं च ते सर्वास्तिवादाः (अभिधर्मकोशम्, पृ. ८०५)। प्रत्युत्पन्नादीनां कालविभागानामस्तित्वसिद्धौ वसुबन्धुना हेतुचतुष्टयं प्रोक्तम्– (अभि., पृ. ८०४)। एतेषु हेतुद्वयमागमप्रमाणरूपेणोपस्थाप्यते–

(अ) उक्तत्वात्–भगवता बुद्धेन संयुक्तागमे (३.१४) कण्ठतोक्तम्– 'अतीतं चेद भिक्षवो रूपं नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्रावकोऽतीते रूपे अनपेक्षोऽभविष्यत्।

(ब) द्वयात्–भगवतः देशना अस्ति– 'द्वयं प्रतीत्य विज्ञानस्योत्पादः भवति। यदि अतीतः नास्ति, अनानगतश्च नास्ति तर्हि तदालम्बनं विज्ञानञ्च द्वयं प्रतीत्य न स्यात्। चक्षुरिन्द्रियं द्रव्याणि चापि द्वयम्, मनः धर्माश्चापि द्वयमेव अतीतानाततधर्माभावात् अतीतानागतात्मकं मनोविज्ञानं नोत्पन्नं भवति।

(स) सद्विषयात्–विषये सति विज्ञानं प्रादुर्भवति। आलम्बनाभावात् विज्ञानमेव नोत्पद्यते।

(द) फलात्–अतीताभावे शुभाशुभकर्मणां फलाभावो आपतेत्। न हि फलोत्पत्तिकाले वर्तमानो विपाकहेतुरस्ति।

२. कालत्रयस्य सिद्ध्यनन्तरं प्रत्युत्पन्नादीनां विभेदस्य तेषां स्वरूपस्य च प्रश्नः समुदेति। अतः वसुबन्धुना अभिधर्मकोशे (५.२५–६) सर्वास्तिवादस्य मतचतुष्टयं समुल्लिखितम्–

(अ) भदन्तधर्मत्रातस्य भावान्यथात्ववादः– यथा एकः धर्म अध्वाद् अध्वान्तरं गच्छति तदा भावस्यैवान्यथात्वं, न द्रव्यस्य। यथा सुवर्णसंस्थानस्यैवान्यथात्वं न वर्णस्य, इति आकृत्यन्यथा–त्वस्योदाहरणम्। क्षीराद् दधिपरिणामे दुग्धं रसवीर्यविपाकान् परित्यजति, न वर्णम् इति गुणान्यथात्वस्योदाहरणम्। एवमेव कोऽपि धर्मः यदा अनागतात् प्रत्युत्पन्नाध्वनि प्रवर्तते तर्हि स अनागतं भावं परित्यज्य वर्तमानभावं लभते। किन्तु तत्र द्रव्यस्यानन्यत्वं तथैव तिष्ठति, द्रव्यभावं स न परित्यजति। अयमेव भावान्यथात्ववादः।

(ब) भदन्तघोषकस्य लक्षणान्यथात्ववादः–अध्वसु प्रवर्तमानो धर्मो अतीतो अतीतलक्षणयुक्तः अनागतप्रत्युत्पन्नाभ्यामवियुक्तः। एवं प्रत्युत्पन्नोऽप्यतीतानागताभ्यामवियुक्तः। तद्यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तः शेषास्वविरक्त इति।

यदि अनागतमतीतप्रत्युत्पन्नाभ्यां वियुक्तं स्यात् तर्हि नानागतमेवोत्पन्नमतीतं स्यात्। अथातीतम् अनागतप्रत्युत्पन्नाभ्यां वियुक्तं स्यात् नानागतं वर्तमानं चातीतं स्यात्। वर्तमानमतीतानागताभ्यां वियुक्तमनागतमेव वर्तमानं, वर्तमानमेवातीतं स्यात्। लब्धवृत्तिना हि लक्षणेन युक्तो व्यवस्थाप्यते, तदन्येन अवियुक्ता न विरहित इति।

(स) भदन्तवसुमित्रस्य अवस्थान्यथात्वादः–अध्वसु प्रवर्तमानो धर्म अवस्थामवस्थां प्राप्य अन्योऽन्यो कथ्यते, अवस्थान्तरवशात्, न द्रव्यान्तरवशात्।

(द) भदन्तबुद्धदेवस्य अन्यथाऽन्यथात्ववादः– अध्वसु प्रवर्तमानो धर्मः पूर्वापरमपेक्षया अन्योऽन्य उच्यते अवस्थान्तरतः, न द्रव्यान्तरतः। यथैका स्त्री माता वोच्यते दुहिता चेति। अतः अस्मिन्मते पूर्वमपरञ्चापेक्षया अतीतानागतवर्तमानव्यवहारः।

६– विभज्यवादीनां मतम्– विभज्यवादिनः सर्वास्तिवादिभ्यो भिन्नाः। अतस्तेषां कालविषयकं मतमपि भिन्नमेव। एतेषां मतानुसारं कालत्रयस्यास्तित्वं तु वर्तते किन्तु विभागपूर्वकमेव, अतः ते विभज्यवादिनः। फलदृष्ट्या प्रत्युत्पन्नमतीतानागतकालं विभज्य वदन्ति इमे अत एव ते विभज्यवादिनः। तद्यथा प्रत्युत्पन्नधर्मस्य अतीतविषयस्य च यस्य कर्मणः फलानि अद्यावधि नोत्पन्नानि तौ एव प्रत्युत्पन्नातीतौ कालौ सत्यौ। नास्ति तस्यानागतस्य कालस्य सत्ता, न चास्ति सत्ता तस्यातीतस्य विषयस्य येन स्वफलोत्पत्तिः सम्पादिता।

७– वसुबन्धुमतम्–

(क) वसुबन्धुना अभिधर्मकोशे (५.२५) विभज्यवादीनां मतमेव प्रस्तुतं किंतु न तस्यालोचनं विहितम्, समर्थने विरोधे वा युक्तिरपि न प्रस्तुता।

(ब) वसुबन्धुना सर्वास्तिवादीनां मतचतुष्टयं समालोच्य मतत्रयं खण्डितमेकञ्च समर्थितम्। तन्मते भदन्तधर्मत्रातस्य भावान्यथात्ववाद: सांख्यानां परिणामवादसदृश एव। अत: त एव दोषा अत्रापि स्वीकर्तव्या:। भदन्तघोषकस्य लक्षणन्यथात्ववादे अध्वसांकर्यदोषो वर्तते। भदन्तबुद्धदेवस्या–न्यथाऽन्यथात्ववादे एकस्मिन्नेवाध्वनि त्रयोऽध्वान: प्राप्नुवन्ति अतीतेऽध्वनि पूर्वपश्चिमौ क्षणौ अतीतानागतौ, मध्यम: क्षण: प्रत्युत्पन्न इति। एवमनागतेऽपि।

अतो भदन्तवसुमित्रेण प्रस्तुतोऽवस्थाऽन्यथात्ववाद: तृतीय: पन्था वसुबन्धुना समर्थित: 'तृतीय: शोभन इति (अभि. ५.२६)।

(स) अस्य अवस्थाऽन्यथात्ववादस्य कालाध्वन: व्यवस्था कारित्रेण भवति—अध्वान: कारित्रेण व्यवस्थिता: (तदेव) एतदनुसारेण यदा स धर्म: कारित्रं न करोति तदा अनागत: यदा करोति तदा प्रत्युत्पन्न: यद कृत्वा निरुद्धस्तदा अतीत इति। किं वा उपरतकारित्रमतीतम् अप्राप्तकारित्रमनागतम् प्रत्युत्पन्नकारित्रञ्च वर्तमानमिति (अभि. ८०९)।

(द) इत्थं कालत्रयस्य विभेदे कारित्रस्य महत्त्वं सुसिद्धम्। कारित्रमाध्यमेनैव कालत्रयस्य विभाजनं सम्पद्यते किंतु कारित्रशब्दस्यात्र कोऽर्थ: इत्यपि विचारणीय:।

अत्र खलु कारित्रशब्दस्यार्थद्वयं व्याख्यातम्—दर्शनादिव्यापार: फलदानग्रहणञ्च।

(य) धर्मकारित्रसम्बन्धयोर्विषयं विचार्यापि वसुबन्धुना सिद्धान्तोऽयं स्थापित:— धर्मात् कारित्रं न भिन्नम्। अत: धर्मकारित्रयोरनन्यत्वात् धर्म एव कारित्रम् इत्थं यो ह्यजातो धर्म: सोऽनागत:, यो जातो भवति न च विनष्ट: स वर्तमान: यो विनष्ट: सोऽतीत उच्यते। एवमध्वत्रयं सिद्ध्यति।

(र) अस्मिन् प्रसङ्गे इदमपि स्पष्टीकृतं यत् भावपदार्थस्य सर्वदास्तित्वविषये सर्वास्तिवादीनां किं मतम्! तेषां मते भाव: न द्रव्यत: सर्वदा अस्ति किन्तु स्वभावत:। अर्थात् रूपादे: यत्स्वलक्षण तत् सर्वस्मिन् काले विद्यते इति कृत्वा भावानां सर्वदास्तित्त्वं कथ्यते।

(ल) अत: सर्वास्तिवादे अतीतानागतं द्रव्यतो नास्ति, किन्तु स्वभावतोऽस्ति। तन्मते यद्भूतपूर्व तदतीतम् यत् सति हेतौ भविष्यति तदनागतम तद्भूत्वाऽविनष्टं तत्प्रत्युत्पन्नमिति (अभि., पृ. ८१८)।

८— शान्तरक्षितमतम्—

सर्वास्तिवादिना भदन्तवसुमित्रेण अवस्थान्यथावाद: प्रतिपादित: वसुबन्धुना च समर्थित: किंतु शान्तरक्षितेन मतमिदं तत्त्वसंग्रहे (२१.१७६–१८०९) विवेच्य विशेषत: कारित्रस्वरूपविषये कारित्रधर्मयो: सम्बन्धविषये च नानाप्रश्ना: समुपस्थापिता:। अन्ते चातीतमनागतञ्च निषेध्य वर्तमानक्षणस्यैव सत्यत्वं स्थापितम्। तन्मते नास्तिक्यप्रतिषेधार्थमेव भगवता कर्मोपदेश: कृत:। अत: अतीतानागतयोर्सत्ता काल्पनिकी वर्तते। तत्त्वतश्च वर्तमानस्यैव क्षणस्य सत्यत्वं सिद्ध्यतीति (तत्त्व पृ. ५०४–१९)।

शान्तरक्षितेनोपस्थापितानां प्रश्नानां संक्षेपः–

(क) पूर्वपक्षिणोक्तं सम्प्राप्तकारित्रो वर्तमान उच्यते, उपरतकारित्रोऽतीतः, अप्राप्तकारित्रोऽनागत इति। अत्रकारित्रशब्दस्य कोऽर्थः?

(ख) दर्शनादिव्यापारः कारित्रं कथ्यते चेत् निद्राद्यवस्थायां कारित्राभावात्तस्य वर्तमानता न स्यात्। यथा पञ्चानां चक्षुरादीनां दर्शनादीनि। यतः चक्षुः पश्यति, श्रोत्रं श्रृणोति इत्यादिविज्ञान–स्यापि विज्ञातृत्वम् विजानातीति कृत्वा रूपादीनामिन्द्रियगोचरत्वम्। एवं सति प्रत्युत्पन्नस्य सभागस्य चक्षुषो निद्राद्यवस्थायां कारित्राभावाद् वर्तमानता न स्यात्।

(ग) फलदानग्रहणलक्षणं कारित्रं कथ्यते चेत् अतीतानां कथं कारित्रसम्भवः! अतीतञ्च निःसत्त्वं भवति, तस्मात् निःसत्त्वात् कथं फलानि प्राप्तुं शक्यन्ते। असतः नास्ति कार्योत्पादनसामर्थ्यम्।

अस्मिन् प्रसङ्गे संहतभद्रेणोक्तम्– 'धर्माणां कारित्रमुच्यते फलाक्षेपशक्तिः न तु फलजननम् इति। न चातीतानां सभागहेत्वादीनां फलाक्षेपोऽस्ति वर्तमानावस्थायामेवाक्षिप्तत्वात्। न चाक्षिप्त–स्याक्षेपो युक्तः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। तस्मादतीतानानां न कारित्रसंभव इति नास्ति लक्षणसंङ्करः इति।

एवञ्च इति वर्तमानभिन्नानां कालाध्वनां निःस्वभावता प्राप्नोतिः तेषां निःस्वभावता न स्वीक्रियते चेत् तदा तेषां नित्यता आपतेत्। स्वभावस्य सर्वदा व्यवस्थितत्वात् उक्तत्वाच्च 'नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यः स्वभावो न नश्यति' इति।

अन्येऽप्यत्र प्रश्ना :–

(क) अतीतानागताः क्षणिका वा स्युः न वा क्षणिका इति पक्षद्वयमुदेति यतो हि यत् सत् तत् क्षणिकम्।

(ख) अतीतानागताः अर्थक्रियासमर्था असमर्था वा स्युरिति पक्षद्वयं समुदेति अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वलक्षणमित्युक्तत्वात्।

अक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् अर्थक्रियानिवृतौ तल्लक्षणस्य सत्त्वस्य निवृत्तिर्भवति। अतीतानागताः अर्थक्रियायां समर्थाश्चेत् तेषां वर्तमानत्वं प्राप्नोति (तदेव, पृ. ६२७–८)। द्वितीये पक्षे अर्थक्रियाशून्यत्वादेतेषामसत्त्वं प्राप्नोति खपुष्पवत्।

इत्थं शान्तरक्षितमते अतीतादिवस्तुजातकल्पना न साध्वी इति (तदेव, पृ. ६३२)।

निष्कर्षाः– (१) बौद्धमते कालविषयका विविधाः परस्परविरुद्धाश्च सिद्धान्ता प्राप्यन्ते। सर्वास्तिवादः कालत्रयस्यास्तित्वं स्वीकरोति किन्तु शून्यवादः तं निषेधयति। स्वतंत्रविज्ञानवादे शान्तरक्षितादीनां मते केवलं वर्तमानस्यैवास्तित्वं प्रमाणसिद्धं वर्तते नातीतानागतयोः।

(२) बौद्धमते कालविषयको विचारः न केवलं भावस्वभावदृशा अपि तु क्रियास्वभावदृशाऽपि प्राप्यते। भावस्वरूपविषये बौद्धमतेषु नैकमत्यमतः कालस्वरूपसम्बन्धविषयेष्वपि विप्रतिपत्तयः दृश्यन्ते। (३) तथापि सर्वेषां बौद्धसम्प्रदायाणामत्रैकमत्यं यन्नास्ति कालः नित्य इति।

आर्यशूरप्रणीताया जातकमालायामाचारदर्शनम्

बौद्धधर्मस्य प्रचारार्थमार्यशूरेण प्रणीतायां जातकमालायां चतुस्त्रिंशत् कथा: विद्यन्ते यासु सद्धर्मोपदेशा: शुभाशुभकर्मनियमाश्चोपलभ्यन्ते। अत्र बोधिसत्त्वा: सद्धर्मस्यादर्शभूता:। बोधिसत्त्वानां विविधजीवनप्रसङ्गानधिकृत्य विहिता इमे तद्धर्मोपदेशा महता तपसा 'दुष्करशतसमुदानीता: किं वाधिगता:, नानायासेन।' सोऽयमत्र प्रकाशित: सद्धर्म: शरीरस्य यान्त्रिकसाधनाभि: यातनाभिश्च वा नानुपालनीय:। अत एवोक्तम्– 'कुशतृणमात्रास्तीर्णायां हि पृथिव्यां स्वभावकठिन्यां निषण्णेन स्वपता वा प्रतप्यमानशरीरेण न सुखं धर्मविधिरनुष्ठीयते' इति।

आर्यशूरमतानुसारेण क्षणभङ्गुरेऽस्मिन् लोके जीवनं प्रति दृष्टिद्वयं दृश्यते–सम्यग्दृष्टि: मिथ्यादृष्टिश्च। प्रथमेन मार्गेण शुभकर्मपरोपकार–सुखशान्ति–निर्वाणादीनि प्राप्यन्ते अपरेण च मार्गेण अशुभकर्म–दु:ख–नरकादीन्युपलभ्यन्ते। अत: प्रथम एव मार्ग: श्रेयस्करो नान्य:।[१]

''दु:खस्यैकान्तिकी आत्यन्तिकी च निवृत्तिरेव जीवनस्य परमं प्रयोजनं पुरुषार्थो वा'' इत्यत्र सर्वेषामेव भारतीयदर्शनानामैकमत्यम्। किन्त्वार्यशूरमतेन ब्रह्मलोकप्राप्तिनिर्वाणादिकं जीवनस्य साधारणमेव प्रयोजनं, न परमं प्रयोजनम्। 'कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' इति महाभारतोक्तं सिद्धान्तमेव स पारमार्थिकप्रयोजनत्वेनाङ्गीकरोति। ध्यानाभ्यासेन कुशलकर्मणा च परोपकारसामर्थ्यमुपलभ्यते। अत एतयो: प्रयोजनयोर्नास्ति वैपरीत्यमपि तु परस्परमुपकार्योपकारक–भावसम्बन्ध:।[२]

जातकमालायां प्रतिपादितमाचारदर्शनं कारुण्यदर्शनं परोपकारदर्शनञ्च। एतदाचारशास्त्रं सर्वेषामपि जीवानां कृते कल्याणशास्त्रम्। करुणाप्रेरितपरोपकार एव सद्धर्म इत्यत्रत्य: सिद्धान्त:। अयमेव सद्धर्म: पुरुषार्थ: वीरभाव: पुण्यप्रभावश्चेति कथ्यते। अस्मिन्नेव परमे प्रयोजने शरीरस्यास्य साफल्यं विद्यते। अयमेव सद्धर्म: भवचक्रात् पूर्णमुक्तेरुपायभूत इति। यावत् सर्वेषामपि दु:खानां विनाशो न भवति तावत् कोऽपि ज्ञानी परोपकारी वा प्राप्तस्यापि मोक्षस्यानुभूतिं सम्यक्तया याथातथ्येन च कर्तुं न शक्नोति।[३] महानयं परोपकारभाव: स्पर्धायशोलोभाभिमानादिभि: प्रेरितो न स्यादिति विशिष्टा मर्यादात्र स्वीक्रियते।[४]

कारुण्यं विना परोपकाभाव: व्यर्थ एव। करुणाशून्यता परोपकारप्रतिकूलैव। अन्यच्च, आततायिनं प्रत्यपि हृदये तादृश्येव करुणा अपेक्ष्यतेऽत्र यादृशी सदाचारिणं प्रति भवति। जीवमात्रं करुणास्पदमेव। न पश्यत्युपकार्यस्य सम्प्रदाय–लिङ्ग–व्यवहारादिकं कारुणिक:। स तु केवलं तद्दु:खविनाशमेव स्वस्य मुख्यं पुरुषार्थं स्वीकृत्य तत्कल्याणाय प्रयतते। करुणोपकारसमन्वितेऽस्मिन् सद्धर्मे स्वात्मसमर्पणभाव एवापेक्ष्यते, न हिंसा (मैत्रीबलजातकम्)।

आर्यशूरमतेन कारुण्यमेव सत्पुरुषलक्षणम्। महाकारुणिकत्वादत्र बुद्ध एव सर्वतः श्रेष्ठः। करुणैव सद्धर्मस्याधारभित्तिः परोपकारस्य प्रेरिका शक्तिश्च। [५] अतः करुणाशून्येन पुरुषेण कृतः उपकारः स्वार्थ एवाडम्बरमात्रमेव, नान्यत्। दयाहीनः पुरुषः न केवलं परं प्रति किन्तु स्वात्मानं प्रत्यपि पापभाक् भवति। [६] सत्यास्तेयेन्द्रियसंयमादयः सर्वेऽपि गुणाः कारुण्यात् प्रादुर्भवन्ति कारुण्यमेवानुसरन्ति [७] च– "संक्षेपेण दयावतः स्थिरतया पश्यन्ति धर्मं बुधाः।" विपदैश्वर्यदयाशून्य–व्यवहारादयः स्वाभाविकीं करुणां न बाधेरन्निति नियमः। [८]

कारुण्यजनितपरोपकार एव सद्धर्म इत्यार्यशूरः। अतोऽनया रीत्या प्रव्रज्या, इन्द्रियनिग्रहः सत्यमहिंसा धैर्यं सन्तोषः अतिथिसत्कारः निर्भरता अलोभः मैत्री शरीरं प्रत्यनासक्तिः दानं विनयः शीलं पुण्यनिष्ठा सत्संगतिरित्यादीनि कर्माणि शुभानि तद्विपरीतानि चाशुभानि सन्ति। सर्वास्वपि कथासु कथाकारेणार्यशूरेण कर्मणामेतेषां प्रभावः माहात्म्यञ्च प्रतिपादितं यथावसरञ्च कर्मणां शुभत्वं पूर्वोत्तरपक्षोपन्यासपूर्वकमपि विवेचितम्। यथा यज्ञजातके यज्ञनिमित्तहिंसाप्रसङ्गः, ब्राह्मणजातके च गुरुजनकल्याणार्थमसत्यव्यवहारसन्दर्भश्च।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवती'ति सिद्धान्तस्य सद्धर्मविरुद्धत्वं युक्तिपूर्वकं प्रतिपादयता तेनोक्तं यद्धर्मप्रसङ्गेऽपि कृता हिंसा अधर्म एव, अशुभं कर्मैव। सद्धर्मेण साकं नास्ति कोऽपि सम्बन्धः पशुहिंसायाः स्वर्गप्राप्तेः देवानां प्रसादस्य च। [९] हिंसापरात् यज्ञात् लोककल्याणं भवतीति सिद्धान्तः मिथ्यादृष्टिरेव। एवमेव गौरवसम्पन्नानां गुरूणामादेशं स्वीकृत्य चौर्यादिकर्मसु प्रवृत्तिः निन्दनीयैव। यतो हि नास्त्यस्मिन् लोके तादृशं निर्जनं स्थानं यत्र पापकर्म कर्तुं शक्यते। [१०] सत्यपि निर्जने स्थाने न कदापि पापं पुण्याय भवति। [११]

मिथ्यादृष्टिबलात् दूषिताशयवशाच्च तथैव दुष्कर्मप्रवृत्तिर्भवति मनुष्याणां यथा जाग्रदवस्थायां सम्पादितानां व्यवहाराणां संस्काराणाञ्च प्रभावेणैव मानवैः स्वभावतः अभ्यासवशाच्च विविधाः स्वप्नाः दृश्यन्ते।

कर्मफलयोस्सम्बन्धः क्लिष्टतमो विषय इत्यार्यशूरेणाङ्गीकृतः। परमस्मिन् विषये सर्वेषामैकमत्यं प्रकाशितं तेन यच्छुभकर्मणां फलान्यशुभानि कदापि न भवन्ति, अशुभकर्मणाञ्च फलानि शुभानि भवितुं नैव शक्नुवन्ति। बुद्धेनापि स्वाशुभकर्मबलात् पशुयोनिरपि प्राप्तेत्येवात्र प्रमाणम्।

शुभकर्माणि प्रति लोकस्य प्रवृत्तिः कथं भवेदिति कृत्वाऽन्यतम उपायः प्रदर्शितोऽत्र। अभिजातवर्गैः स्वीकृतः सद्धर्मोऽयं लोकेनाप्यवश्यमेवानुसरणीयो भवतीति। [१२]

निष्कर्षाः

१. देवान् ईश्वरञ्च लक्ष्यीकृत्य विविधोपासनापद्धतयः तन्त्रादीनामाचारशास्त्राणि वा लोके प्रचलितानि दृश्यन्ते तदपेक्षया करुणोपकारयोरिदमाचारदर्शनमधिकतरं लोककल्याणकरं व्यावहारिकं

मनोवैज्ञानिकञ्चास्ति। अत: करुणोपकारयोर्या प्रशस्तिरत्र कथासु प्राप्यते सा तु सत्यैव समीचीनैव, नालीका।

२. जातकमालाया आचारदर्शनं न कस्याप्येकस्य जीवस्य कल्याणाय किन्त्वस्ति सर्वेषामपि जीवानां दु:खनिवारणाय मोक्षाय सुखाय च। दृष्टिरियं वैदिकदर्शनेभ्यो विलक्षणैव।

३. आचारदर्शनमिदं सार्वदेशिकं सार्वकालिकं शाश्वतिकञ्च यतो हि न दृश्यतेऽत्र देश–काल– समुदाय–सम्प्रदाय–लिङ्ग–मनुष्य–पशु–पक्ष्यादि–कृतो भेद:।

४. जगत: पलायनं शिक्षयति बौद्धदर्शनमिति यल्लांछनं तत्समाधानभूतेयमाचारदृष्टिर्यस्यां लोककल्याणभावना स्वात्मापेक्षयापि निदर्श्यते।

सन्दर्भ–

१. सद्दृष्टिरस्माच्च निषेवितव्या त्याज्या त्वसद्दृष्टिरनर्थवृष्टि...। जातकमाला, २३.५९.

२. ...ध्यानसुखैरपि तु सतां न तिरस्क्रियते परहितेच्छा।। तदेव, २९.१.

३. न चात्मदु:खक्षयमात्रकेण मे, प्रयाति सन्तोषपथेन मानसम्।
अमूननाथानभिवीक्ष्य देहिन:, प्रसक्ततीव्रव्यसनश्रमातुरान्।। तदेव, ८.८४

४. न स्पर्धया नैव यशोभिलाषान् न स्वर्गलाभान्न न राज्यहेतो:।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धे:।। तदेव, १.३०

५. '...स्वभावातिशयस्य निष्पादिका परानुग्रह–प्रवृत्तिहेतु:, करुणेति। तदेव, १.३०. दशमे पृष्ठे

६. दयावियोगात्तु जन: परमामेति विक्रियाम्। मनोवाक्कायविस्पन्दै: स्वजनेऽपि जने यथा।।
तदेव, २६.४०

७. (अ) दयां सत्त्वेषु मन्येऽहं धर्मं संक्षेपतो नृप! हिंसास्तेयनिवृत्त्यादिप्रभेदं विविधक्रियम्।। तदेव, २६.३८

(ब) "...सुवृष्टिरिव सस्यानि गुणान् सा हि प्रसूयते।" तदेव, २६.४१

८. आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति।१२४ पृष्ठे।

९. को हि नामाभिसम्बन्ध: धर्मस्य पशुहिंसया। सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा।। तदेव, १०.१०

१०. नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वत:। अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान्।।
तदेव, १२.१३

११. अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन्विषं निषेव्यैव कथं समृध्नुयात्। तदेव, १३.२६.

१२. "लोकस्य हि स स्वभाव: प्रधानचर्यानुकृतिप्रधानम्।। तदेव, १०.२

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी–स्मृति–ग्रन्थमाला के प्रकाशन

प्रशान्त प्रकाशन

१२८, बालाजी कॉलोनी, नगवाँ, वाराणसी – २२१ ००५ (उ०प्र०)
फोन : ०५४२ – ३६६०६६

प्रथम पुष्प	कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार लेखक : डॉ० विष्णुराम नागर सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	१५०.००
द्वितीय पुष्प	तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड लेखिका : डॉ० बीना अग्रवाल सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	३००.००
तृतीय पुष्प	सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि लेखक : डॉ० विजयशंकर द्विवेदी सम्पादक : डॉ० कृष्णकान्त शर्मा	१७५.००
चतुर्थ पुष्प	उन्मीलनम् (म०म०पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते अभिनन्दन ग्रन्थ) सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	५००.००
पञ्चम पुष्प	बौद्धाचार्य वसुबन्धु लेखक : डॉ० मुनिराम तिवारी सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	२००.००
षष्ठ पुष्प	मेदपाद–मण्डन पं० गिरिधरलाल शास्त्री लेखक : डॉ० यशवन्त कुमार जोशी सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	४००.००
सप्तम पुष्प	दर्शन–कणिका डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	१५०.००

अन्य प्रकाशन

१. बौद्ध, वेदान्त एवं कश्मीर शैव दर्शन
लेखक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, १९८६
मूल्य : २५०.००

२. सिद्धित्रयी (उत्पलाचार्य विरचिता)
सम्पादन एवं अनुवाद : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८८
मूल्य : १२५.००

३. जातकमाला (आर्यशूरप्रणीता)
अनुवाद एवं अध्ययन : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९९२
मूल्य : २००.००

४. पीयूषम् (आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मारिका)
सम्पादन : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, १९९५
मूल्य : १००.००

५. गीतामृतम्
मूल लेखक : पं० गिरिधरलाल शास्त्री
अनुवाद एवं भूमिका : डॉ० यशवन्तकुमार जोशी
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
मूल्य : २५.००

६. उद्गार (डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी के प्रति सहृदयों के)
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास